राजस्थानी भाषा

अध्यापक श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
एम. ए. [कलकत्ता], डी. लिट्. [लन्डन],
एफ. आर. ए. एस. बी. भाषाचार्य, साहित्य-वाचस्पति
कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषा-तत्त्व विभाग के अध्यक्ष

द्वारा

महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान,
राजस्थान विश्व विद्यापीठ उदयपुर के
अन्तर्गत " महाकवि सूर्यमल-आसन " से

ता. २७, २८ और २९ जनवरी सन् १९४७ ई. को दिये गये

तीन भाषण

प्रकाशकः—
मंत्री-महाराणा भूपाल प्राचीन
साहित्य शोध-संस्थान, राजस्थान
विश्व विद्यापीठ
उदयपुर।

प्रथम संस्करण
मई सन् १९४९ ई०
मूल्य—ढाई रुपये

मुद्रकः—
सी. एम. शाह
मॉडर्न प्रिन्टरी लिमिटेड,
इन्दौर.

॥ ॐ ॥ ःश्रीः

गौड-वङ्ग तथा राजस्थान

के प्रमुख प्रत्नविन्

पूजनीय पंडित

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री भट्टाचार्य

(१८५३–१९३१ ई०)

तथा

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

(१८६३–१९४७ ई०)

की पुण्य स्मृति में

ग्रन्थकार का सश्रद्ध समर्पण ॥

प्राक्कथन

उदयपुर (राजस्थान) के राजस्थान विश्व-विद्यापीठ के आमंत्रण पर सुप्रसिद्ध भाषा-तत्त्वविद् डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा राजस्थानी भाषा पर दिये गये व्याख्यानों की इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर 'प्राक्कथन' लिखना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। सुनीति बाबू विश्व-विख्यात भाषा-शास्त्री हैं। आपने भाषा तत्त्व के संबंध में जो मौलिक और असाधारण अनुसंधान किये हैं, उनसे विद्वद् जगत् भलीभाँति परिचित है। प्रस्तुत व्याख्यानों द्वारा आपने राजस्थानी भाषा की महत्ता, व्यापकता, प्राचीनता तथा उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर सब नया प्रकाश डाला है और राजस्थानी भाषा-शास्त्रियों एवं साहित्य-संशोधकों को एक पथ-निर्देशन दिया है।

किसी भी भाषा पर पास-पड़ौस के देशों और उनकी संस्कृति का प्रभाव अवश्य पड़ता है, विशेष कर जहाँ कि विभिन्न देशों के मनुष्यों का आवागमन एवं संपर्क अधिक होता है, वह प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। अपनी भौगोलिक विशेषता के कारण राजस्थान भारत के उत्तर-पश्चिम में आने वाली जातियों को दक्षिण की ओर बढ़ने पर राह में पड़ता है, इसलिए राजस्थानी भाषा एवं संस्कृति पर भारत से बाहिर की भी अगणित भाषाओं एवं संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा है। सुनीति बाबू ने उन कतिपय भाषाओं एवं संस्कृतियों के प्रभाव का, जिनका समय-समय पर राजस्थानी भाषा से संघर्ष हुआ है, परिचय इन व्याख्यानों में दिया है और इस प्रकार अनुसंधान में जो समस्याएँ सामने

आती हैं, उनका समाधान भविष्य के भाषा अन्वेषकों के लिए सुगम कर दिया है।

राजस्थानी भाषा लगभग डेढ़-दो-करोड़ जनता की भाषा है। भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट वर्ग राजस्थानियों की यह भाषा है। देश की स्वतंत्रता और धर्म की रक्षा के लिए हँसते-खेलते प्राण-विसर्जन का महान् आदर्श जिस राजस्थान के वीर नर-नारियों ने संसार के सामने रखा था—उनकी भाषा में भारतीय वीरता का इतिहास और आर्य संस्कृति अनुप्राणित है; जो आज के स्वतंत्र भारत के पुनरुत्थान और अशांत विश्व की शांति के लिए भी उतने ही महत्व की है। ऐसी भाषा का वैज्ञानिक रीति से अन्वेषण होना अत्यन्त आवश्यक है।

पाश्चात्य देशों में वहाँ की प्रायः सभी भाषाओं के शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में प्रचुर साहित्य-निर्माण हुआ है। पर हमारा देश आज भी इस दिशा में कोई प्रगति नहीं कर रहा है। हमें यह अवगत नहीं है कि हमारी भाषाओं के कौन-कौन शब्द कब और कैसे बने, कहाँ से आये और उनका रूपान्तर, अर्थान्तर तथा अन्य परिवर्तन कैसे घटित हुआ? पश्चिम के कुछ विद्वानों ने हमारे देश में एतद् विषयक अनुसंधान की राह दिखाई और श्रद्धास्पद डॉ॰ सुनीतिकुमारजी ने अपनी जीवनव्यापी भाषा-विषयक तपस्या से इस पथ को और भी प्रशस्त किया है। आज संसार रेडियो, तार, टेलीफोन, टेलीविजन, एवं हवाई जहाजों द्वारा इतना छोटा होगया है कि समूची मानव जाति को एक राष्ट्र, एक जाति, एक भाषा, एक लिपि एवं एक संस्कृति के सूत्र में गूंथने का प्रयत्न दुनियाँ के अग्रगामी मनीषियों द्वारा उद्घोषित हुआ है। ऐसे विचार को कार्य रूप देने के लिए हमें विभिन्न साहित्यिक अभिप्रायों और वर्णनों के इतिहास का अन्वेषण करना होगा।

साथ ही यह भी देखना होगा कि स्वर, ध्वनि, उच्चारण आदि के विषय कहाँ-कहाँ किस प्रकार कार्य करते हैं। इन तुलनात्मक अन्वेषणों से विश्व की भाषा और भावों का समन्वय सुगम हो सकेगा और विश्व की एक भाषा के निर्माण में ऐसे अनुसंधान-यत्न सहायक होंगे।

राजस्थानी जाति ने जिस प्रकार देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समय की माँग के अनुरूप त्याग, बलिदान, शौर्य, एवं साहस का परिचय दिया और आततायी विदेशी यवनों के दाँत खट्टे किये और आज भी जैसे व्यावसायिक क्षेत्र में अपना अजोड़ एवं प्रशंसनीय स्थान बनाया, उसी प्रकार भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में भी आधुनिक युग के वैज्ञानिक साधनों तथा अनुसंधानों से अपनी राजस्थानी भाषा एवं साहित्य के अनमोल रत्नों द्वारा विश्व की सर्वश्रेष्ठ भाषाओं के समकक्ष बनाने में और मानव जाति की उन्नति में समुचित भाग लेने में समर्थ होगी और श्रद्धेय सुनीति बाबू के सत्परामर्श का अनुसरण करेगी।

ऐसे महत्वपूर्ण व्याख्यानों के आयोजन एवं इस सुन्दर प्रकाशन के लिए राजस्थान विश्व विद्यापीठ के कार्यकर्ता हमारे अभिनंदन के पात्र हैं।

कलकत्ता
२०मई १९४९ ई०

—छोटेलाल जैन

विषय सूची

—०:◎:०—

पृष्ठ संख्या

श्रीमान् सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
एम. ए. डी. लिट, साहित्य-वाचस्पति, भाषाचार्य,
तृतीय सूर्यमल्ल अभिभाषक

राजस्थानी भाषा

१ प्रासंगिक

राजस्थानी की विशेषताएँ

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर् न सन्न चासञ्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥
सर्वज्ञं तदहं वन्दे परं ज्योतिस्तमोपहम् ।
प्रवृत्ता यन्मुखाद् देवी सर्व-भाषा-सरस्वती ॥

राजस्थानी भाषा के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने के लिए आप लोगों ने मुझे निमंत्रित किया है । इस आह्वान को मैं अपने लिए अनपेक्षित और अभावनीय संमानना समझता हूँ । राजस्थानी ऐसी समृद्ध और साहित्यपूर्ण भाषा से मेरा यथोचित परिचय नहीं है, न इसके सम्बन्ध में मैं खोज कर पाया हूँ । इस भाषा का अध्ययन भी मैंने नहीं किया है, इसके साहित्य के विस्तार के बारे में मेरी कुछ अस्पष्ट धारणा-मात्र है । पर इस भाषा और इसके साहित्य के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं पूर्णरूप से सचेत हूँ; भाषातात्त्विक दृष्टि से इसका थोड़ासा अवलोकन भी मुझे करना पड़ा है । मेरी मातृभाषा बंगला के इतिहास का विचार करने के लिए उसकी बहनों के इतिहास का झांकी-दर्शन करना भी आवश्यक हुआ । मां की सेवा के लिए योग्यता को प्राप्त करते समय मौसीओं के चरणों में प्रणाम निवेदन किये बिना काम नहीं चला । इसके अतिरिक्त, हिन्दी के इतिहास की चर्चा कुछ वर्षों से मेरी आजीविका से सम्बन्धित हो गई है; और हिन्दी पर कुछ

विचार करने के लिए उसकी विशाल छाया में सम्मिलित हुई विभिन्न प्रांतिक बोलियों और भाषाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी करने की भी आवश्यकता होती है। इस स्वल्प संयोग, तथा विषय पर गंभीर प्रेम, इन दोनों की शक्ति से आप लोगों का आह्वान स्वीकार करने में मैं साहसी हुआ हूँ। आलोचना करते समय कुछ नवीन ज्ञान अवश्य ही प्राप्त हुआ करता है, इस लोभ से भी मैं आप लोगों के सामने हाजिर हुआ हूँ। ऐसा अवसर जो मुझे मिला है, वह आप लोगों की ही कृपा का फल है; इसलिए मैं आप लोगों का विशेष आभारी हूँ।

"राजस्थानी" भाषा के नाम से हमारे प्रांत के लोग ज्यादातर परिचित नहीं हैं, यद्यपि इस प्रांत से व्यापार के लिए आये हुए और वहाँ बसे हुए मारवाड़ी सेठ साहुकारों के कारण "मारवाड़ी" बोली या "मारवाड़ी हिन्दी" का नाम सबको विदित है। पर अंग्रेजी तथा देश-भाषा में लिखी हुई भूगोल की पुस्तकों में उपलब्ध नहीं होते हुए भी, प्रान्त-वाचक "राजस्थान" यह नाम एक विशेष मर्यादा के साथ हम सब कोई स्मरण करते हैं, खास करके हिन्दुओं में, और शिक्षित लोगों में। मुख्यतया एक विदेशी की राजस्थान पर प्रीति के कारण ऐसा हो पाया। सन् १८२९ में कर्नल जेम्स टॉड ने लन्दन से अपना महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ— इसे अमर ग्रंथ भी कह सकते हैं—"अनाल्ज़् अंड अन्टिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान" (Annals and Antiquities of Rajasthan) दो खंडों में प्रकाशित किया था। निकलते ही इस ग्रंथ ने भारत के हिन्दू साहित्य में और पुनर्जागृति के क्षेत्र में अपना निराला स्थान बना लिया। टॉड का "राजस्थान" भारतीय भाषाओं में अनूदित होने लगा। बंगला में ई० स० १८४० से लेकर इसके कई अनुवाद निकले हैं। इनमें एक पद्यमय भी है।

राजपूताने के वीर महाराणाओं और अन्य राजाओं की शूरता और देश-प्रेम की अमर कहानी से परिचित होने का शुभ अवसर इस ग्रन्थ से दूसरे प्रांतों के हिन्दुओं को मिला। राजपूत देशात्मबोध तथा राज-

पूती शौर्य अब से निखिल भारत की गर्व की वस्तु बनी— हिन्दू जाति को टॉड के "राजस्थान" द्वारा एक नया महाभारत मिला। रामायण, महाभारत और पुराणों के प्राचीन और अपूर्व उपाख्यानों के साथ, राजस्थान के वीरों और वीरांगनाओं की अनोखी कथाओं ने हिन्दू संसार की रसानुभूति और स्वजात्यभिमान को और भी बढ़ाया। प्राचीन पौराणिक समय के सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय राजाओं के साथी बने— राठौड़, हाड़ा, कछवाह, पँवार, तोमर आदि कुलों के राजा और वीर-लोग; शिलादित्य, बाप्पा रावल, पृथ्वीराज चौहान, हमीर, राणा भीमसी, राणा सांगा, राणा प्रतापसिंह, वीर दुर्गादास, राणा राज-सिंह आदि, निखिल भारत के वीरत्व के आदर्श माने गये। सावित्री, सीता, दमयन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा आदि पुण्यश्लोक पौराणिक नारियों के पास पुष्पवती, संयोगिता, पद्मिनी, कर्मदेवी, ताराबाई प्रभृति को आसन मिले। आधुनिक भारत की भाषाओं में काव्य, नाटक और उपन्यास जितने लिखे गये हैं, उनमें एक बड़ा ही अंश राजस्थान के वीरों और वीर-नारियों के ही प्रसाद का फल है। इस प्रकार "राजस्थान" यह शब्द समग्र भारत के लिये, खास कर के हमारे बंगाल और पूर्वी प्रान्त के लिये, a house-hold word, अर्थात् अपने घर की बात हो गया है। "राजस्थान" इस शब्द ही के आदर्श पर हमने बंगला, गुजराती, मराठी, ओड़िया, तेलुगू, कानड़ी आदि भाषाओं में देश-वाचक कुछ फारसी समस्त पदों के "अस्तान, इस्तान, स्तान" शब्द को संस्कृत "स्थान" के रूप में बदला कर, इन्हें भारतीय बना लिया है— जैसे "हिन्दुस्थान", "शकस्थान", "अफगानस्थान", "बलोचस्थान", "तुर्कस्थान", और हालान् "आर्यस्थान", "द्राविड़स्थान" भी।

कलकत्ते में राजस्थानी भाषा बचपन से हमारे कानों में पड़ती आती है, पर टॉड के "राजस्थान" के कुछ अंश पढ़ने के पहले इसके सम्बन्ध में मेरे मन में कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हुई। टॉड ने

अपनी पुस्तक के जिस स्थान पर अति रोचक भाव से हल्दी घाटी के युद्ध का वर्णन किया है, उस के बाद चैटक घोड़े पर सवार होकर राणा प्रतापसिंह के युद्ध-क्षेत्र से आत्म-रक्षा के लिये निकल जाने का भी बयान किया है। किशोर अवस्था में रोमांचित-देह होकर जब मैं पढ़ता था, कैसे हमारे प्रणम्य वीर प्रताप के पीछे खुरासानी और मुलतानी दो मुगल सवारों ने धावा किया, और अपने भाई की शूरता से मुग्ध हो कर अनुतप्त छोटे भाई सक्ता (शक्तसिंह) ने कैसे उन्हें बचाने के लिए इन दोनों का पीछा किया, कैसे खुरासानी और मुलतानी दुश्मनों को मारा, फिर शत्रु समझ घायल होते हुए भी उनसे दूर भागने के लिए तैयार प्रताप को निवृत्त करने के उद्देश्य से सक्ता ने कैसे मेवाड़ की बोली में पुकारा—"हो, नीला घोड़ा रा असवार !" तब उस समय मेरा चित्त, अननुभूतपूर्व किसी अद्भुत रस से, romance या रमन्यास से, और साहित्यास्वादन के आनन्द से भर गया; और पूरी तौर से जिससे मेरा परिचय नहीं होने पाया, ऐसी मेवाड़ी बोली की इस उक्ति ने भी, एक नये जगत् के अस्तित्व की खबर मुझे ला दी, जहां की भाषा हमारी परिचित उत्तर-भारत की मामूली हिन्दी नहीं है और जो भाषा अपने निरालेपन ही के कारण मेवाड़ के लोकोत्तर वीरों के योग्य समझी गई। संबंध-वाचक परसर्ग "का" या "के" स्थान पर "रा" का व्यवहार, यह नया लगते हुए भी मेरी अपनी मातृभाषा बंगला के "एर्" या "र्" प्रत्यय से संपर्कित ही अनुभूत हुआ। इसके बाद, टॉड के दिये हुए राजस्थानी बोली के और कुछ निदर्शन मेरी नजर आये; जैसे—"आक री झोपड़ी, फोक री दार। बाजरा री रोटी, देखो हो राजा थारी मारवाड़ ॥"—इनके द्वारा राजस्थान की बोली से मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ। फिर, भारतीय भाषाओं के इतिहास की ओर आकर्षित होने के बाद, भाषातात्त्विक अवलोकन के फल-स्वरूप राजस्थानी से कुछ परिचय किये बिना कार्य नहीं चल सका। बंगला की उत्पत्ति तथा विकास के विचार करने के समय, राजस्थानी की कुछ विशिष्टताओं

के साथ बंगला का एक अनपेक्षित सादृश्य नजर आया; एक से दूसरी की कुछ समस्याओं के समाधान में सहायता मिलती है।

अपना विस्तार-क्षेत्र, अपनी जन-संख्या, अपना पुराना साहित्य—इन सभी कारणों से राजस्थानी बोलियों का एक खास महत्त्व है। राजपुताने के साथ मालवा— इस विशाल भू-भाग पर राजस्थानी फैली है। ई. स. १९३१ की जनगणना के अनुसार, करीब एक करोड़ चालीस लाख मानवों की बोलियां "राजस्थानी" में गिनी जाती हैं। भीली को राजस्थानी ही का एक रूप-भेद समझ, यदि करीब बाईस लाख भीली बोलनेवालों को राजस्थानी-भाषीओं के अन्दर लाया जाय, तो वह संख्या एक करोड़ साठ लाख से ज्यादा होगी। पंजाब,उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश और काश्मीर के गूजरों तथा तमिल-देश में बसे हुए सौराष्ट्रों को साथ लेने से, यह संख्या और भी बढ़ जायगी। राजस्थानी का पुराना साहित्य अधिकतया मारवाड़ी में मिलता है—परन्तु और राजस्थानी बोलियों में साहित्य-सर्जन इतना नहीं होने पाया। मारवाड़ी तथा अन्य प्रकार के राजस्थानी साहित्य का पूरा इतिहास अब तक नहीं निकला। आप लोग इस विषय पर खोज कर रहे हैं। हम लोग बड़े ही आग्रह के साथ आप लोगों के अनुसंधान की राह ताक रहे हैं। राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा निकल जाने पर, इसके मुख्य ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद, हमारी मध्य-युग की भारतीय संस्कृति के इतिहास का एक विशेष गौरवमय अध्याय हमें उपलब्ध होगा।

अंग्रेजों के साथ संपर्क से जो देन हमें यूरोप से मिली है, उसमें यान्त्रिक ज्ञान-विज्ञान और यान्त्रिक साधनों का महत्त्व इतना नहीं है, जितना कि यूरोप से प्राप्त scientific curiosity अर्थात् विज्ञान-दृष्टि से भरी हुई जिज्ञासा, या वैज्ञानिक कौतूहल का। केवल मानविकता अथवा मानव-धर्म की ओर आकर्षित होकर, प्राचीन ग्रीस के द्वारा निर्दिष्ट राह से, यूरोप, सर्वजातीय तथा सर्वदेशीय मानवों की कृति की समझ में, इसके अनुशीलन में और इसके अच्छे गुणों के

ग्रहण करने में, दत्तचित्त हो गया है। इस वैज्ञानिक अनुशीलन से जो मिल सकता है, ऐसा निर्वैयक्तिक आनन्द भी इस नवीन युग में यूरोप ने ही हमको दिया है। इस अनुशीलन ने मानव-संबंधी किसी विषय को छोड़ना नहीं चाहा। भाषा तथा साहित्य भी इसमें आये हैं मुख्यतः इसी भावना से, और साथ-साथ कुछ ईसाई-मिशनरीओं में सब मनुष्यों पर भ्रातृ-भाव के कारण, अपने लिए जिसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ समझा था, उस ईसाई-मार्ग को उनमें फैलाने के लिए, विभिन्न जातियों की भाषा और संस्कृति की चर्चा यूरोप के विद्वज्जनों ने की। अंग्रेज सरकार का जब भारतवर्ष के वंगदेश पर अधिकार हुआ, तब से अंग्रेज विद्वानों तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों की दृष्टि भारतीय भाषाओं के ऊपर पड़ी, इनकी चर्चा में और इनमें अपने धर्म-शास्त्र के अनुवाद में यथाशक्ति और यथासम्भव ये लोग लग गये। प्रांतीय भाषा बंगला पर, उस समय के मुसलमान राजभाषा फारसी पर, मुसलमानों की धार्मिक भाषा अरबी पर, भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक भाषा संस्कृत पर, और भारत की आन्तःप्रान्तिक भाषा हिन्दी-उर्दू पर, स्वकीय जनों को शिक्षा के सुभीते के लिए अंग्रेज विद्वानों के द्वारा इन भाषाओं के व्याकरण का लिखना शुरू हुआ; और जिन भाषाओं में गद्य साहित्य का अभाव था, या उसकी कमी थी, उसको पूर्ण करने के लिए इन्होंने उत्साह भी दिया। ऐसे बंगला, हिन्दी, उर्दू और ब्रज-भाषा में कुछ गद्य पुस्तकें लिखवाई और छपवाई गई। कलकत्ते के निकट श्रीरामपुर में Baptist Mission बाप्तिस्त मिशन के खिस्तान मिशनरीओं का एक बड़ा केन्द्र बना। वहां Carey केरी, Marshman मार्शमान, और Ward वार्ड नाम के तीन मिशनरी, भारतीय भाषाओं के अच्छे विद्वान् बने। ये भारतीय भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद के काम में नियुक्त हुए। बंगला, हिन्दी, उर्दू इत्यादि के अलावा, इनकी चेष्टा से कुछ राजस्थानी बोलियों में बाइबिल के द्वितीय खंड (ईसा के सम्बन्ध में लिखी हुई पुस्तक) " नये नियम " का (मार-

वाड़ी, उदयपुरी या मेवाड़ी, बीकानेरी, जैपुरी, हाड़ोती तथा "उज्जैनी" या मालवी बोलियों में) अनुवाद हुआ (सन् ईस्वी की उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में)। राजस्थानी भाषा के संबंध में यूरोप के पंडितों के कौतूहल का यह प्रथम फल है। भारतीय भाषा के तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन के सम्बन्ध में सब से पहिला ग्रंथ John Beames जॉन बीमूज़् ने लिख कर तीन खंडों में सन १८७२, १८७५ और १८७९ में प्रकाशित किया था, तब उसमें राजस्थानी का विचार नहीं हुआ—इसे हिन्दी ही के अंतर्गत समझा गया। यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के तीस चालीस वर्ष पूर्व ही कर्नल जेम्स टॉड ने राजस्थानी से अच्छे परिचय को प्राप्त किया था, पर उन्होंने राजस्थानी भाषा पर कुछ नहीं प्रकाशित किया।

बीमूज़् के बाद स्व० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर और Rudolf Hoernle रूडोल्फ ह्योर्न्‌ले ने अपने भारतीय आर्य-भाषाओं के इतिहास-विषयक ग्रंथों में भी राजस्थानी पर कुछ खास बात नहीं लिखी। Kellogg केलॉग ने अपने हिन्दी व्याकरण में राजस्थानी बोलियों में से मारवाड़ी और मेवाड़ी और कहीं-कहीं जैपुरी का भी कुछ विचार किया है (१८७६, द्वितीय संस्करण १८९३)। राजस्थानी बोलियों का प्रथम वर्णनात्मक दिग्दर्शन सन् १९०७ और १९०८ में Sir George Abraham Grierson सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने आधुनिक-भारतीय-भाषा-विषयक विश्वकोष Linguistic Survey of India के दो खंडों में किया था। इनकी खोज से, राजस्थानी बोलियों के पारस्परिक संबन्ध तथा संयोग के विषय पर कुछ स्पष्ट रूप-रेखा पाठकों की नजर में पड़ती है। "पुरानी पश्चिमी राजस्थानी" (अर्थात गुजराती और मारवाड़ी इन दोनों के पूर्व रूप) के ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर सन् १९१४ से १९१६ तक इटली के विद्वान् राजस्थानीविद् स्व० L. P. Tessitori एल. पी. तेस्सितोरी ने Indian Antiquary "इण्डियन ऐन्टीक्वेरी" पत्रिका के अंकों

में जो मूल्यवान् गवेषणा सम्पूर्ण की थी, उससे राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला गया है। राजस्थानी की विभिन्न बोलियों में उपलब्ध मध्य-युग के साहित्य, खास कर के 'डिंगल साहित्य', प्राचीन गुजराती-मारवाड़ी साहित्य, अपभ्रंश साहित्य—ये सब राजस्थानी के इतिहास के निर्णय के लिये प्रधान उपजीव्य हैं। श्रीरामपुर के मिशनरियों ने गत ईस्वी शती के प्रारंभ में जो अनुवाद कुछ राजस्थानी बोलियों में किये थे, वे भी विचारणीय हैं। चालू राजस्थानी पर ग्रियर्सन का विचार विशेष महत्त्वपूर्ण है; इस विचार की शैली को और भी पुष्ट करके, नई तौर पर भाषा-तत्त्व के सर्वांगीण दृष्टिकोण से आधुनिक राजस्थानी की वर्णना की जरूरत है—सभी बोलियों से प्रचुर निदर्शन, संगृहीत होना चाहिये। पुरानी राजस्थानी उच्चारण-रीति, रूप-तत्त्व और वाक्य-रीति के पूरे विचार के साथ तेस्सितोरी की आलोचना ऐसी महत्त्वपूर्ण है कि इसे राजस्थानी (मारवाड़ी) तथा गुजराती भाषा-तत्त्व की बुनियाद यदि कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

भारत की और सब प्रान्तिक आर्य भाषा या बोलियों की नाईं राजस्थानी की भी कुछ विशिष्टताएं हैं। राजस्थानी के सभी रूप-भेदों में पूर्णतया सर्वत्र नहीं दीख पड़ती हुई भी, ये राजस्थानी ही की परिचायक होती हैं। "राजस्थानी" इस नाम से, ग्रियर्सन ने, भौगोलिक संयोग के कारण, और कुछ स्थूल विशिष्टिताओं के कारण, जिन बोलियों या भाषाओं को एकत्र गूंथ दिया था, वे सचमुच दो पृथक शाखाओं की हैं—एक, पूर्व की शाखा, जो पछाँही हिन्दी से (ब्रजभाषा आदि से) ज्यादा सम्बन्ध रखती है; और दूसरी, पश्चिम की शाखा, जिसका गुजराती से मौलिक संयोग है। ग्रियर्सन ने "राजस्थानी" बोलियों का वर्गीकरण यों किया है:—

[१] पश्चिमी राजस्थानी—इसमें ये बोलियां आती हैं—जोधपुर की Standard या 'खड़ी' राजस्थानी अर्थात् शुद्ध पश्चिमी मारवाड़ी; ढटकी, तथा थली, और बीकानेरी; बागड़ी, शेखा-

वटी; मेवाड़ी, खैराड़ी; सिरोही की बोलियां ('आबू-लोक' की बोली या राठी, तथा साखठ की बोली इनमें हैं); गोड़वाड़ी और देवड़ावाटी ।

[२] उत्तर-पूर्वी-राजस्थानी—अहीरवाटी और मेवाती ।

[३] मध्य-पूर्व राजस्थानी (ढूँढाड़ी)— तोरावाटी, 'खड़ी जैपुरी', काठैड़ा, राजावाटी, अजमेरी, किशनगढ़ी, चौरासी (शाहपुरा), नागरचाल, हाड़ौती (रिवाड़ी के साथ) ।

[४] दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी या मालवी—इसके कई रूप-भेद हैं, जिनमें राँगड़ी और सोंडवाड़ी हैं ।

[५] दक्षिण राजस्थानी—इसमें निमाड़ी आती है ।

ग्रियर्सन ने "भीली" और "खानदेशी" नाम से राजस्थान-गुजरात और राजस्थान-महाराष्ट्र प्रान्तों की कुछ बोलियों को राजस्थानी से अलग समझ कर, अपने Linguistic Survey of India अर्थात "भारतीय भाषा समीक्षा" ग्रंथ के एक पृथक् खंड में इनका विचार किया है । पर व्याकरण की दृष्टि से भीली को राजस्थानी के अधीन रखना ही ठीक होगा, ऐसा मालूम होता है । "भीली" बोलियों का गुजराती से काफी सादृश्य है; और "खानदेशी" बोलियाँ राजस्थानी अथवा गुजराती और मराठी इन दोनों के मिश्रण से उत्पन्न हुई हैं— संभव है कि ये प्राचीन मराठी के ऊपर राजस्थानी के गहरे प्रभाव का फल है । यह प्रभाव दक्षिण में कोंकणी भाषा तक पहुँचा है—कोंकणी में ऐसी कुछ विशेषताएँ हैं जो राजस्थानी से मिलती हैं, मराठी से नहीं । इनके अलावा, पंजाब और उत्तर-पश्चिम सीमांत-प्रदेश तथा काश्मीर की गुजरी बोली, और तमिल-नाडु की सौराष्ट्र बोली, ये भी राजस्थानी के अन्तर्गत हैं, राजस्थानी की किसी पूर्वी शाखा में ये आती हैं (गुजरी का सम्बन्ध ज्यादातर उत्तर-पूर्वी राजस्थानी की मेवाती से ही है) ।

ग्रियर्सन द्वारा स्वीकृत इस वर्गीकरण के विषय में, तेस्सितोरी के ऐतिहासिक विचार के अनुसार, तथा सूक्ष्मतर वैयाकरण दृष्टि के कारण,

कुछ रद्दो-बदल करने की जरूरत दिखाई देती है। राजस्थान-मालवे की बोलियों को दो ही मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा। ग्रियर्सन की [१] तथा [२] को एक साथ लेकर, केवल उन्हें ही "राजस्थानी" नाम देना ठीक होगा, इनमें [१] को अब जैसा "पश्चिमी राजस्थानी" कहना चाहिये, और [२] को " पूर्वी राजस्थानी"। बाकी श्रेणियों की भाषाओं को या बोलियों को कितनी दूर तक हम "राजस्थानी" में शामिल कर सकते हैं, यह विचारणीय है। अहीरवाटी, मेवाती, मालवी और निमाड़ी—ये पछाँही हिन्दी से ज्यादातर संपर्कित हैं, या खास राजस्थानी से, इस विषय पर चरम निष्कर्ष अब तक नहीं निकला है। राजस्थान की बोलियों पर मध्यदेश की बोली का गहरा प्रभाव बहुत प्राचीन काल से पड़ता आता है।

भाषा के क्षेत्र में, अर्थात् उच्चारण या ध्वनियों में, नाम और क्रिया के रूपों में, तथा वाक्य-रीति में, और नव्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं के सामने, कौन से गुण राजस्थानी की तखसीस या खास चीजों में गिने जा सकते हैं? राजस्थान के पड़ौस की तथा उसके रिश्ते की दूसरी भाषाओं के साथ तुलना करके ही इसका निर्णय होगा। यह तुलना करनी चाहिये, न केवल इन सब भाषाओं के उपलब्ध पुराने निदर्शनों में, बल्कि इनके चालू उच्चारणों तथा चालू रीतियों में भी। खास करके ध्वनि या उच्चारण के क्षेत्र में, ध्वनियों के यथायथ निर्देश के लिये भारतीय या देवनागरी लिपि की विशेष उपयोगिता रहते हुए भी, मौखिक भाषा की आवाज पूर्णरूप से प्रदर्शित नहीं होने पाई। जिन विशेष गुणों के समवाय या सम्मिलन से राजस्थानी का राजस्थानीपन निरूपित होता है, उनमें से कोई न कोई और किसी पड़ौस की या दूर की नव्य-भारतीय आर्य भाषा में जरूर ही मिलेगा। ऐसे होते हुए भी, इन गुणों के परस्पर शृंखलित होने की खास रीति के कारण, ये राजस्थानी ही के लिए अपने परिचायक माने जा सकते हैं। किसी भाषा के विशेष गुणों

का विचार करते समय इस ओर भी ध्यान देना चाहिये कि इनमें कुछ गुण, प्राचीन उच्चारण-रीति तथा व्याकरण-रीति— जो अब और लक्षणीय या प्राणवंत नहीं है— उनके फल हैं; और कुछ गुण अभी तक जोर से चालू हैं।

और एक बात है। राजस्थानी के खास लक्षण जिन्हें हम कहते हैं, सभी राजस्थानी बोलियों में ये शायद सब-के-सब नहीं मिलेंगे; मध्य-देश की भाषा के प्रभाव के कारण बहुत स्थलों पर राजस्थानी के कुछ लक्षणों का लोप या परिवर्तन स्वाभाविक ही है। फिर, प्राचीन राजस्थानी में उपलब्ध कुछ विशेष लक्षण, जिन्हें राजस्थानीपन की जड़ कहा जा सकता है, अब बहुतसी बोलियों में से लुप्त हो गए हों, तो उससे उन बोलियों का राजस्थानीपन नहीं छूटता—उन बोलियों के प्राचीनतर रूप में इन लक्षणों के अवस्थान से ही चालू बोलियों के राजस्थानीयत्व को स्वीकार करना होता है।

राजस्थानी के खास गुण या लक्षणों में ये हैं—

[क] उच्चारण-संबंधी—

[1] (ज्यादतर शब्द के आद्य अक्षर के) अ-कार का इ-उच्चारण: जैसे— "जिण (जन), मिनक (मनुष्य—सिरोही), चिमकणा (चमकना), सिरदार (सरदार), पिशमीणा (पशमीना), किसबण (कसबन), मिनख (मनुष्य), केहिर (केसरी), पिंडत (पंडित), हिरण (हरिण), किस्तूरी (कस्तूरी), महिल > मैल (महल)।"

[2] इसका विपरीत, इ-कार तथा उ-कार के स्थान पर अ-का उच्चारण: जैसे—"मनख (मनुष्य), दन (दिन), कनार (किनार), लख (लिख), परणत्रो (<परिणय), सुगणी (सुगुणी), मांणस (मानुष), हाजर (हाज़िर), मालम (मालूम, मालुम), कवँर (कुमार), मालक (मालिक), हरण (हरिण), दल्ली (दिल्ली), रप्या (रुपया), मळाप (मिलाप), मळ (मिल), बलाई (बिलाई),

जाजम (जाज़िम), नकळ्यो (निकल्यो), बचार्यो (विचार्यो), बचारी (विचारी)" इत्यादि ।

[राजस्थानी ही के असर का फल, हिन्दी के "हिरन, गिनना, किवाड़, लिलार, सपूत, कपूत, भभूत" आदि शब्द हैं, ऐसा ही प्रतीत होता है ।]

[३] "ऐ" तथा "औ", खास करके प्राकृतज (तद्भवज) शब्दों में, यथाक्रम अंग्रेजी hat और hot शब्दों के a और o के सदृश उच्चारित होते हैं । उच्चारणतत्त्व के लिए International Phonetic Association की खास लिपि में इन ध्वनियों के लिए [ɛ, ɔ] वर्ण नियत किये गये हैं । इन ध्वनियों में, "ऐ"-की ध्वनि को हम 'नीचा या खुला या विवृत ए', और "औ"-की ध्वनि को 'नीचा या खुला या विवृत ओ' कह सकते हैं— अंग्रेजी के lower or open è, lower or open ò, इन दोनों पारिभाषिक शब्दों की नजीर से । पछांही-हिन्दी में ये ध्वनियां शुद्ध रूप में नहीं सुनाई देतीं । पछांही-हिन्दी में विवृत "ए" और "ओ" ध्वनि के बाद, यथाक्रम अर्ध स्वर "य्" और "व्" (y, w) का आगम हुआ करता है । जैसे "जैन, कौन" शब्दों के पछांही हिन्दी रूपों के उच्चारण यों होते हैं [jɛyn, kɔwn] । पर इनके राजस्थानी प्रति-रूपों में शुद्ध विवृत "ए" और "ओ" ध्वनि मात्र [ɛ, ɔ] सुनाई देती है, जैसे "जैण, कौण" [jɛːn̩, kɔːn̩] (ध्वनिप्रकाशक International Phonetic Association की लिपि में, [ː] दीर्घत्व का चिह्न है । यह लिपि किंचित् परिवर्तित रूप में यहां व्यवहृत हुआ है ।) पुरानी राजस्थानी और उसके पूर्व की अपभ्रंश भाषा के "अइ, अउ" से, तथा संस्कृत (तत्सम)

शब्द के "ऐ, औ" से, ये विवृत "ए, ओ" राजस्थानी में आये हैं।

[४] मूर्धन्य "ण" और "ळ" राजस्थानी की दो विशिष्ट ध्वनियाँ हैं। ये, नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं में, पंजाबी, हिन्दकी या लहंदी, सिंधी, मराठी, गुजराती, और ओड़िया, सिर्फ इन में मिलती हैं—मध्यदेश की बोली (पछांही-हिन्दी—खड़ी-बोली, बांगड़, जानपद हिन्दुस्तानी, तथा कनौजी, ब्रजभाषा और बुन्देली), कोसली या पूर्वी-हिन्दी (अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी), बिहारी (भोजपुरी, मैथिल, मगही), एवं बंगला और आसामी, नेपाली या गोरखाली और कुछ हिमाली या पहाड़ी बोलियों में, ये दो मूर्धन्य ध्वनि अब लुप्त हो गई हैं। पछांही-हिन्दी से इस विषय में राजस्थानी का एक लक्षणीय पार्थक्य है। साधारणतया, मूर्धन्य "ड, ड़" ध्वनियों की ओर राजस्थानी का एक विशेष आकर्षण है। पुरानी राजस्थानी में सिर्फ "ल" ही लिखा जाता था, पर "ळ" का उच्चारण भाषा में था, इसके पक्ष में युक्ति है। (अभी तक पूर्वी-पंजाबी की गुरुमुखी लिपि में जैसा हम देखते है, "ळ" के लिये वर्ण नहीं है, पर "ळ" ध्वनि पंजाबी भाषा में सुनाई देती है।)

[५] राजस्थान की कुछ बोलियों में "च, छ, ज, झ" इन तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण सुनाई देता है—[c, ch, j, jh] के स्थान पर [ts, s, dz, z]। जिन बोलियों में ऐसा दन्त्य उच्चारण आता है, उनमें, साथ ही साथ "स" [s] की ध्वनि "ह" [h] हो जाता है। यह "स"-जात "ह"-कार स्पष्ट रूप से सुनाई देता है; परन्तु मूल अर्थात् संस्कृत और प्राकृत से प्राप्त शब्दों का "ह"-कार, साधारणतया राजस्थानी में कुछ विशेष परिवर्तन का अधीन होता है;

पछांही-हिन्दी में जैसा, इस मौलिक "ह"-कार का (अर्थात् जो "ह"-कार पूर्व ही से प्राप्त है, उसका) वैसा शुद्ध या स्पष्ट उच्चारण राजस्थानी में नहीं मिलेगा।

च-वर्गीय वर्णों का दन्त्य उच्चारण, तथा "स"-का "ह" में परिवर्तन, राजस्थानी के लिये कुछ अनोखी या निराली बात नहीं है। ऐसा उच्चारण और "स"-का "ह"-भाव, पूर्व-वंग की बंगला भाषा में तथा आसामी में मिलते हैं। दन्त्य उच्चारण नेपाली (गोरखाली) तथा और कुछ हिमाली बोलियों में भी पाया जाता है। राजस्थानी से सम्बन्धित गुजराती के कुछ उपभाषा या प्रांतिक रूप (जैसा सुरती गुजराती) में भी दन्त्य उच्चारण तथा "स"-का "ह"-भाव आता है। पुरानी मराठी में, और गंजाम जिले की ओड़िया में, यह दन्त्य उच्चारण दिखाई देता है। "स"-का "ह" उच्चारण, मराठी में, बंगला, पछांही-हिन्दी आदि कुछ भाषाओं में, कहीं-कहीं मिलता है—केवल प्राचीन प्राकृत से उपलब्ध कुछ शब्दों में; पर इन भाषाओं में यह विशिष्टता, भाषा की अपनी तखसीस या विशिष्टताओं में नहीं है— यह किसी बाहरी भाषा के प्रभाव से कुछ विशेष शब्द या प्रत्ययों में आया है, ऐसा ही मालूम पड़ता है। पर पूर्वी-पंजाबी और हिन्दकी या लहन्दी में, और सिंधी में, "स"-का "ह" हो जाना, निहायत लक्षणीय है। यहाँ पड़ोस की बोलियों में तीन प्रधान बोलियों से राजस्थानी के कुछ प्रांतिक रूपों का सादृश्य है।

[६] राजस्थानी खासियतों में, वर्गों के महाप्राण अघोष वर्णों का, अर्थात् "घ, झ, ढ, ध, भ" का, विशेष उच्चारण, तथा उसके साथ ही साथ मौलिक (अर्थात् संस्कृत और प्राकृत से उपलब्ध) "ह"-कार की विकृति,—ये दोनों, विशेष सूक्ष्मता के साथ विचारणीय हैं। यदि मूल "ह"-कार के साथ महाप्राण

अघोष स्पृष्ट वर्णों की इस विकृति पर ध्यान दिया जाय—ये विकृतियां कई प्रकार की होती हैं— तो भारत की प्रचलित आर्य भाषाएँ, दो मुख्य श्रेणी या विभागों में पड़ेंगी;—[१] जिन भाषाओं में यह विकृति नहीं होती, उनका विभाग (पछांही-हिन्दी, कोसली या पूर्वी-हिन्दी, हिमाली भाषाएँ, बिहारी अर्थात् भोजपुरी, मैथिली, मगही, पश्चिमी तथा उत्तरी बंगला, आसामी, ओड़िया, और मराठी,— ये इस विभाग में आएंगी); और [२] जिन भाषाओं में यह (ह-सम्बन्धी और महाप्राण के प्राण से सम्बन्धित) विकृति किसी-न-किसी प्रकार से आती है (हिन्दकी या लहन्दी, पूर्वी-पंजाबी, सिंधी, राजस्थानी, गुजराती, तथा पूर्वी-बंगला,—ये इस विभाग की भाषाएँ हैं)।

यह विकृति कैसी और क्या है?

पछांही-हिन्दी के ये दो वाक्य लीजिये—

"उसका भाई घरमें नहीं रहा (था)— दूध ले-कर उसकी बहिन बाहर आई।"

इनमें "भ," "घ," "ध," "ह," इन सब महाप्राण घोषवत् वर्णों का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण होता है—जैसे—

[uska: bɦa:i: gɦʌr me:n̥ nʌɦi:n̥ rʌɦa: (tha:)—du:dɦ le:kʌr uski: bʌɦin (bæɦən) ba:ɦər a:i:] [n=ँ।]

ब्रजभाषा में इन वाक्यों के प्रतिरूप में भी वैसा स्पष्ट उच्चारण मिलेगा, जैसे—

"वाकौ भाई घर मांहि नहीं रह्यौ—दूध लेइ-करि वाकी भैंनी बाहर आई।"

[wa:kʌu bɦa:i: gɦʌrəma:n̥ɦi nʌɦi:n̥

rʌɦyʌu—du:dɦə le:i kʌri wa:ki: bɦʌini: ba:ɦʌr a:i:]

तथा कोसली की अन्तर्गत अवधी या बैसवाड़ी में—

"ओ-कर (ओ-के) भाइ घर-म नहीं रहीस— दूध ले-कइ ओ-के बहिन बाहर आइस्।"

[o:kʌr (o:ke) bɦa:i gɦʌr mʌ nʌɦi:n̥ rʌɦi:s—du:dɦ le:kʌi o:ke bʌɦin ba:ɦər a:is]

तथा भोजपुरी में—

"ओह-के भाई घर-में नहीं रहल—दूध लेइके ओह-के बहिनी बाहिर आइली।"

[oɦke bɦa:i gɦʌrme:n̥ nʌɦi:n̥ rʌɦəl— du:dɦ leike oɦke bʌɦini: ba:ɦir a:ili:]

तथा पश्चिमी-बंगला में (पश्चिमी-बंगला के उच्चारण की एक खास रीति यह है कि शब्दों के मध्यस्थ तथा अन्तःस्थ "ह"-कार का ऐसा ही लोप होता है, और अघोष और घोष दोनों प्रकार के महाप्राण वर्णों में अल्प-प्राणता आ जाती है, जब ये किसी शब्द के अन्त में या बीच में रहते हैं; अर्थात्, "ह"-कार तथा महाप्राण वर्णों का पूरा या शुद्ध उच्चारण केवल शब्दों के आदि में ही होता है। पर, साहित्यिक बंगला पढ़ने के समय पश्चिम-बंगाल के लोग, सर्वत्र यथायोग्य, महाप्राण वर्ण तथा "ह"-कार का शुद्ध उच्चारण, मामूली तौर पर, सिखाये बिना कर लेंगे)—

"ओर भाइ घरे छिलो ना—दुध निये ओर बोन बाइरे एलो"।

[or bɦa:i gɦore cɦilona—dud nie or bon baire elo]

साहित्यिक बंगला, जिसे "साधु-भाषा" कहा जाता है, उसमें दोनों वाक्यों के प्रतिरूप ऐसे होंगे, और पश्चिम-बंगाल के लोगों के मुंह से महाप्राण वर्ण तथा "ह"-कार स्पष्टतया उच्चारित होंगे—

"उहार भाइ घरे छिलोना (रहिलो ना)—दुध लइया उहार बहिन (=भगिनी) बाहिरे आइलो (आसिलो)।"

[uɦa:r bɦa:i gɦore chilo na: (roɦilo na:)—dudɦ loia uɦa:r boɦin baɦire ailo (as'ilo)]

वैसा ही मराठी में—

"ह्याचा भाऊ घरांत नाहीं झाला (राहिला)—दूध घेऊन ह्याची बहीण बाहेर आली।"

[ɦya:tsa: bɦa:u: gɦɐra:n̥t na:hi:n̥ za:la: (ra:ɦila:)—du:dɦ gɦeu:n ɦya:ci: bɐɦi:n̥ ba:ɦer a:li:]

(ɐ–चिह्न, मराठी ह्रस्व अ-कार के खास उच्चारण का प्रकाशक है।)

ऐसे इन भाषा और बोलियों में "ह"-कार तथा महा-प्राण ध्वनि साधारणतया अविकृत रहती है। "ह"-कार के उच्चारण के संबंध में हमारे प्राचीन प्रातिशाख्यों में जैसा वर्णन किया गया है, आधुनिक Phonetics अर्थात् उच्चारण-तत्त्व ने उसको और भी विशद किया। संस्कृत आदि भारतीय भाषा की "ह" ध्वनि, कंठनाली के बीच में जो मार्ग या पथ है, जिसे अंग्रेजी में glottal passage कहते हैं,

वहीं उच्चारित होती है। उस मार्ग का "संवार" होता है, अर्थात् मार्ग में दरवाजे के किवाड़ों की तरह दो तरफ जो पेशी-खंड रहते हैं, वे घनिष्ठ रूप से नजदीक हो जाते हैं, दरवाजा बन्द-सा हो जाता है, हवा निकलने की राह बड़ी ही सूक्ष्म हो जाती है; हवा बाहर निकलते समय, श्वास-नाली के मार्ग के किवाड़ों पर (इन दोनों पेशियों पर) धक्का देती है। इससे एक झंकृति या झंकार-ध्वनि सुनाई देती है, जिसके कारण बाहर निकलनेवाली हवा घोष-ध्वनि "ह"-कार बन कर, मुंह से श्रुत होती है। घोषवत् "ह"-कार के उच्चारण के समय, कंठनाली पर अंगुली रखने से हम इस झंकृति को अनुभव कर सकते हैं। जब नाली-मार्ग का दरवाजा पूरी तौर से खुला रहता है, इसके दो किवाड़ (अर्थात् दो तरफ के पेशी-खंड) एक ओर से बिल्कुल अलग रहते हैं, संस्कृत वैयाकरणों ने जैसा कहा है, कंठनाली का "विवार" हो जाता है, तब निकलनेवाली हवा को कोई रुकावट नहीं मिलने के कारण यह सहज भाव से श्वास के रूप से बाहर आती है; झंकृति को कुछ अवसर नहीं मिलता; इसका फल जो ध्वनि श्रुति-गम्य होती है, वह है अघोष "ह"-कार अर्थात् संस्कृत विसर्ग [ः] की ही ध्वनि। विसर्ग तथा "ह"—ये दोनों एक ही कंठनालीय प्रश्वसित अथवा निःश्वसित ध्वनि हैं; केवल, इनमें विसर्ग अघोष ध्वनि है, और "ह" घोष ध्वनि। (चालू तौर पर आजकल भारतवर्ष में अधिकतया संस्कृत विसर्ग का ग़लत उच्चारण किया जाता है। सचमुच विसर्ग पूर्व-स्थित स्वर-ध्वनि का "आश्रयस्थान-भागी" होती है—पूर्व-गामी स्वर का अघोष प्रलम्बन ही विसर्ग की शुद्ध ध्वनि है; जैसे "रामः [ra:maa, ra:mah̥], हरिः [ɦarii, ɦarih̥], साधुः [sa:dɦuu̥, sa:dɦuh]; पर हम

बहुशः, क्या उत्तर-भारत में, क्या दक्षिणात्य में, क्या द्राविड़ देशों में, इसे घोषवत् "ह"-कार ही बना देते हैं, और साधारणतया इसके पीछे एक पूरा स्वर (जो विसर्ग के पूर्वगामी स्वर की ही पुनरुक्ति या पुनरावृत्ति होती है) लगा देते हैं; जैसे, "रामः=रामह [ra:məɦə], हरिः=हरिहि [ɦariɦi], साधुः=साधुहु [sa:dɦuɦu]। हम बंगालियों में संस्कृत को जो उच्चारण चालू हैं—क्या पश्चिम-बंग में और क्या पूर्व-बंग में, उन में बंगलापन बहुत सा आने के कारण संस्कृत के शुद्ध उच्चारण के मान (जो अधिकतया महाराष्ट्र आदि प्रांतों के वेदज्ञ, स्वाध्यायी ब्राह्मणों में मिलता है), उससे वे निहायत भ्रष्ट ही प्रतीत होंगे; तो भी, विसर्ग का शुद्ध उच्चारण केवल बंगाल में ही संरक्षित हुवा है। यह विसर्ग, अर्थात् कंठनालीय उष्म अघोष "ह"-ध्वनि, वेद की भाषा में जब "क ख" तथा "प फ" के पूर्व आती है, तब इसका उच्चारण-स्थान, आगे की ध्वनि के प्रभाव से, यथाक्रम कोमल तालु के पास और वर्तुलाकार अधरोष्ठ के द्वार में हो जाता है, यह कोमल-तालुजात उष्म ध्वनि 'जिह्वामुलीय विसर्ग' या 'वज्राकार विसर्ग' (:=×) में तथा 'उपध्मानीय विसर्ग' या 'गजकुंभाकृति विसर्ग' (:= ꣵ) में परिवर्तित होता है: जैसे "ततः किम्=तत ×किम् [tataxkim], पुनः पुनः=पुन ꣵ पुनः [punafpunah]।"

स्पृष्ट ध्वनि "क ग, च ज, ट ड, त द, प ब" जब उच्चारित होते हैं, तब जिह्वा का कोई अंश ऊपर के तालू में पलकभर के लिये सट जाता है, अथवा ("प ब" के लिये) अधर और ओष्ठ मिल जाते हैं (अर्थात् 'स्पर्श' होता है), और फौरन, साथ ही साथ, इस स्पर्श से रोकी हुई हवा अल्पप्राण

स्पर्श-ध्वनियों की आवाज (" क् ग्, च् ज्, ट् ड्, त् द्, प् ब्") सुना कर निकल जाती है। पर जब इस स्पर्श से रोकी हुई हवा का फ़ौरन या अति तुरंत छुटकारा नहीं होता, तब स्पृष्ट-ध्वनि उच्चारित होने के बाद कंठनाली से निकलती हुई हवा, कंठ-नाली-मार्ग-जात उष्म-ध्वनि अघोष विसर्ग अथवा घोषवत् "ह"-कार के रूप में, स्पृष्ट ध्वनियों को साथ देती है; यह हवा या श्वास या प्राण, इस कदर स्पृष्ट ध्वनियों से जड़ित होने के कारण, स्पृष्ट अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण हो जाती है। घोषवत् " घ झ ढ ध भ " ध्वनियों का यदि विश्लेषण किया जाय, तो देखा जायगा कि ये यथाक्रम " ग ज ड द ब " के साथ घोषवत् "ह"-कार के समवाय से या संयोग से बनी हैं; " आघात, सांझी, बेढब, साधु, आभारी," इन शब्दों को यदि हम " आग्हात, सांज् ही, बेड्हब, साद् हु, आब्हारी" यों लिखें, और " ग ज ड द ब" के बाद एक दम कुछ भी देर न कर पढ़ जांय, तो उच्चारण में कोई परिवर्तन नहीं सुनाई देगा। जब अरबी या फ़ारसी लिपि भारतीय भाषा हिन्दी के लिये प्रथम व्यवहृत हुई, तब यह विश्लेषात्मक पद्धति एकमात्र पद्धति रहने के कारण, इसके मुताबिक " काफ, गाफ़, चे, जीम, टे, डाल, ते, दाल, पे, बे," वर्णों के पीछे "ह"-कार-वाचक छोटी या दो-चश्मी "हे" वर्ण को सटा कर, इस संयोग से महाप्राण वर्ण बनाये गये—"काफ" और "हे" मिल कर "ख", "बे" और "हे" मिल कर "भ", इत्यादि। रोमन लिपि में भी ऐसी विश्लेषमय रीति अनुसृत हुई है; यथा, k+h=kh=ख; g+h =gh=घ; b+h=bh=भ; इत्यादि। इन महाप्राण स्पृष्ट वर्णों के बारे में और एक बात पर ध्यान देना है। प्राचीन शिक्षाकार तथा प्रातिशाख्यकारों ने इस पर ध्यान देने

की आवश्यकता नहीं देखी थी, पर आधुनिक उच्चारण-तत्त्व की यान्त्रिक परीक्षा से यह विदित हुआ है। अघोष महाप्राण "ख, छ, ठ, थ, फ" में जो हवा या श्वास या प्राण मिलित होता है, वह अघोष ही होता है; अर्थात् उस प्राण का उच्चारण घोषवत् "ह"-कार का जैसा नहीं होता—वह विसर्ग के अलग और शुद्ध उच्चारण ही है। "ख छ ठ थ फ", इनका विश्लेष दर-असल "क्+ह = क्ह, च्ह, ट्ह, त्ह, प्ह" नहीं है—यह ऐसा ही है—"क्:अ, च्:अ, ट्:अ, त्:अ, प्:अ।" विसर्ग अर्थात् अघोष "ह"-कार का उच्चारण, इन अघोष महाप्राण वर्णों से संयोग के सिवाय हमारी हिन्दी आदि नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं में और कहीं नहीं मिलता है; खास करके शब्दों के आदि में या मध्य में; इसलिए "ख, छ, ठ, थ, फ"—के विश्लेष का पूरा अनुभव, हमारे वाग्यन्त्रों के लिए तथा उच्चारण-संबंधी हमारे बोध के लिए, कुछ शिक्षा-सापेक्ष या विचार-सापेक्ष होता है।

अस्तु—यहां तो हुई शुद्ध "ह"-कार तथा घोषवत् (और अघोष) महाप्राण वर्णों के उच्चारण की बात, जो कि उन भाषाओं के संबंध में प्रयोज्य है, जिनमें ज्यादातर शुद्ध और अविकृत रूप से ये ध्वनि विद्यमान है। पर जिन भाषाओं में ये ध्वनियां विकृत हो गई हैं, उनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। पहिले ही राजस्थानी (मारवाड़ी) को लीजिये। ऊपर दिये हुए दो हिन्दी वाक्य के मारवाड़ी प्रतिरूप में (हिन्दी के द्वारा जो प्रभावित नहीं हुई है, ऐसी मारवाड़ी में), आगत "ह्"-कार तथा घोषवत् महाप्राण वर्णों का उच्चारण कैसा होता है, उस पर सोचिये—

"उण-रो भाई घर में रह्यो नहीं—दूध लेइ कर
उण-री बहेण (बैण, भैण) बारै आई।"

[uṇro: b'a:i: g'ʌr meṉ r'ʌyo: (rʌ'yo:) n'ʌi: (nʌ'i:)—d'u:d leikʌr uṇri: b'g:ṇ b'a:rg a:i:]

यहाँ 'ह' -कार कंठनाली-रथ में उत्पन्न घोष उष्म ध्वनि नहीं है—यह यहाँ और कुछ बन गया है। साथ-साथ, शब्दों के मध्य में अपने स्थान को इसने बना नहीं रखा। महाप्राण "घ", "ध", "भ", उच्चारण की स्पष्टतया "ह"-के साथ उच्चारित "ग", "द", "ब" नहीं हैं। ऐसा अनुभव होता है कि यहाँ गले को दबा कर इन महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण होता है—ध्वनि के अन्तर्गत प्राण के स्थान पर और कुछ आ गया है। इससे पूर्व-वंग की बंगला के उच्चारण की तुलना कीजिये—

"तार भाइ घरे छिलो ना (रहिलो ना)—दूध लैया तार बुइन बाइरे आइलो।"

[tar b'ai g'ɔre silo na (r'oilo na)—d'ud loia tar b'uin b'aire ailo]

यहां "भ", "घ", "ध"-का जो उच्चारण मिलता है, उससे राजस्थानी उच्चारण का बहुत ही मेल-जोल है; पूर्वी बंगला "भाई", "घर" [b'ai, g'ɔr], हिंदी "भाई", "घर"=[bɦa:i:, gɦʌr] से अलग है; पूर्वी-बंगला "दुध" [d'u:d] का उच्चारण, राजस्थानी "दूध" [d'u:d] शब्द से मिलता है, न हिन्दी के "दूध" [=du:dɦ] से; पूर्वी-बंगला तथा राजस्थानी, इन दोनों के "दूध" शब्द के "ध" के प्राण (या "ह"-ध्वनि), मानों और किसी ध्वनि से परिवर्तित होकर, अपने स्थान से शब्द के आदि में "दु" या "दू" के "द" पर चढ़ गया है। पूर्वी-

बंगला "बुइन" और मारवाड़ी "बहेण" या "भैंण" तथा "बाइरे" और "बारै" के आद्य व्यंजन-ध्वनि भी, बराबर या तुल्य सुनाई देती हैं। पूर्वी-बंगला "रहिलो" और राजस्थानी "रह्यो" के "ह"-कार के बदले की ध्वनि ने मानों कि आद्य "र" ध्वनि को किसी तरह बिगाड़ दिया है।

गुजराती की रीति भी देखी जाय—

"तेनो भाई घेर माँ रह्यो नहीं—दूध लईने तेनी ब्हेन ब्हार (बहार) आवी।"

[te:no: bɦa:i: gɦerma:ŋ r'ʌyo n'ʌi:—d'u:d lʌi: ne: te:ni: b'e:n b'a:r a:vi:]

इसमें "भाई" और "घर" इन दोनों शब्दों के "भ" और "व" शायद शुद्ध महाप्राण के रूप में साहित्यिक गुजराती में उच्चारित होते हैं, पर प्रांतिक अथवा दिहाती गुजराती उच्चारण की खोज भी होनी चाहिये। परन्तु "रह्यो, नहीं," इन शब्दों का "ह"-कार लक्षणीय है; और "दुध" के "द" तथा "ध" वर्ण, और "बहार, बहेन (ब्हार, ब्हेन)" शब्दों का "ब" वर्ण, यहां पूर्वी-बंगला तथा राजस्थानी उच्चारण से सादृश्य सुनने में आता है। पूर्वी पंजाबी में—

"उह-दा (ओस-दा) भरा (भ्रा, भाई) घर-विच्च नहीं सी (ना रिहा)—दुद्ध लैकर उह-दी भैंण बाहर आई।"

[u^da: (osda:) pᵤəra: (pᵤa:i:) kᵤʌr wiccə n^ʌi:ŋ si: (na: ri^a:);d^udd lækʌr u^di: pᵤæṇ b^a:r a:i:]

पश्चिमी-पंजाबी (हिन्दकी या लहन्दी) की शाहपुर ज़िले

की बोली में— "उसदा भ्रा घर-विच्च न रेहा—दुद्द् घिन्न्-के उसदी भइण (भैण) बाहर आई।"

[usda: b'ra: g'ʌr-wiccə nʌ r'ea:, d'udd g'inn-ke usdi: b'æṇ b'aər a:i:]

सिन्धी में—

"हुनजो भाउ घर मंझे न हुओ—दुध नेई (नई) हुनजी भेण आई।"

[ɦunəjo: bɦa:u gɦʌrə mʌnjɦe nʌ ɦuwo—dudɦə ne:i: (nʌi:) ɦunəji: bɦe:ṇə a:i:]

लहन्दी में "घ ध भ" तथा 'ह-'कार का उच्चारण राजस्थानी का सा ही होता है। पर पूर्वी-पंजाबी में एक नई वस्तु नजर आती है। शब्द के पहले अक्षर में रहने से, या शब्द की आद्य ध्वनि होने से, "घ झ ढ ध भ" घोषवत् महाप्राण से अघोष अल्पप्राण "क, च, ट, त, प" बन जाते हैं, और इन महाप्राण ध्वनियों का प्राण बदल कर एक प्रकार का सुर हो जाता है: जैसे, "घोड़ा [k◡o:ṛa:], घट्टणा [k◡ʌṭṭṇa:], घी [k◡i:], झट् [c◡ʌṭ], झूठ [c◡uṭṭh], ढाई [ṭ◡æ], ढग्गा = बैल [ṭ◡ʌgga:], ध्यान [t◡ia:n], धरम [t◡ʌrəm], भूक्ख् [p◡u:kkh], भाबी [p◡a:bi:], भोजन [p◡o:jən]"। शब्दों के बीच या अंत का घोष महाप्राण, अपना प्राण का त्याग देकर, घोष अल्पप्राण हो जाता है; पर आद्य अक्षर की स्वरध्वनि के उच्चारण में सुर आता है, यह सुर दूसरी प्रकृति का होता है: आद्य घोष महाप्राण के परिवर्तन में जो सुर आता है, उसे अंग्रेजी में low rising tone याने

अनुदात्त से उदात्त सुर कहते हैं, जैसे " ध्यान [t◡ia:n], भाई [p◡a:i:] " ; पर " दुद्ध [d^udd], बद्धा [b^ʌdda:], कुज्झ=कुछ [k^ujj] " आदि शब्दों का सुर high falling याने उदात्त से गिरता हुआ अनुदात्त सुर होता है। पूर्वी-पंजाबी में आद्य "ह"-कार उच्चारित होता है, पर साथ-साथ यहां अनुदात्त से उदात्त सुर आता है; जैसे " है [ɦ◡æ], हस्सणा [ɦ◡ʌssṇa:], हेंठा [ɦ◡e:ṉṭha:] " इत्यादि। "ह"—कार शब्द के बीच तथा अंत में रहने से, इसका लोप होता है, और शब्द में उदात्त से अनुदात्त सुर आता है : जैसे—" चाहणा [c^a:ṇa:], बैहणा [b^æṇa:], घोढा [d^eoṛa:] " इत्यादि।

सिन्धी के बारे में खोज करने का अवसर अब तक मुझे नहीं मिला है; इसके महाप्राण वर्णों के तथा "ह"-कार के उच्चारण के सम्बन्ध में पूरा अनुसन्धान हुआ कि नहीं, इसका पता मुझे नहीं है। जिस प्राकृत से सिन्धी का उद्भव हुआ था, उसके शब्दों में दो महाप्राण स्पृष्ट ध्वनि रहने से, आद्य महाप्राण के प्राण या "ह"-कार का लोप होता था। आज-कल सिन्धी में शुद्ध महाप्राण तथा "ह"-कार सुनाई देते हैं; पर किसी-किसी अवस्था में महाप्राण वर्णों का तथा कुछ अल्पप्राण घोषवत् स्पृष्ट ध्वनि का, कण्ठनालीय-स्पृष्ट-मिश्र उच्चारण प्रतिष्ठित हो गया है— यहां तक कि ऐसी चार ध्वनि, " ग॒, ज॒, ड॒, ब॒ ", सिन्धी की विशिष्ट या खास ध्वनि गिनी जाती हैं, और अरबी-फारसी लिपि के आधार पर गई शती के अन्तिम पाद में सिन्धी के लिये जो खास लिपि बनाई गई, उसमें इन ध्वनियों के लिये चार नए वर्ण भी नियत किये गये हैं। उदाहरण— "ड॒ाढो ['ḍa:ḍɦo:]=दृढ;

ड्डिठो [d'itho:]=दृष्ट=देखा; ग्गरो [g'ʌro:]=भारी; लग्गो [lʌg'o:]=लगा; ब्बचा [b'ʌca:]=बचा; ब्ब [b'ʌ]=दो; ग्गाइणु [g'a:iṇu]=गाना; अज्जु [ʌj'u] =आज" इत्यादि।

महाप्राण घोषवर्ण तथा 'ह-'कार के ये विशिष्ट उच्चारण पछाँही-हिन्दी के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम की भाषाओं का एक खास लक्षण है। राजस्थानी आदि इन सब भाषाओं में Phonetics या उच्चारण-तत्त्व से अभिज्ञ गवेषक के द्वारा इस विषय पर खोज होनी चाहिये। जहां तक मुझे ज्ञात हुआ, इस विषय के सम्बन्ध में राजस्थानी के लिये ऐसे कुछ सूत्र किये जा सकते हैं—

(१) अघोष महाप्राण स्पृष्ट ध्वनियाँ— "ख छ ठ थ फ"-अपरिवर्तित रहते हैं। जैसे—"खेत, मुख, छै, आछो, ठाकर, पीठ, थळ, रथ, फळ, सफा"।

(२) घोष महाप्राण, "घ झ ढ ध भ", शब्द के आदि में रहने से, वे कण्ट-नालीय स्पर्श से मिलित हो जाते हैं। जैसे,— "घोड़ा, झूठ, ढाई, धन, भलो" = "ग'ोड़ा, जू'ठ, ड'ाई, द'न, ब'लो"।

(३) घोष महाप्राण, शब्द के मध्य अथवा अन्त में रहने से, उनका असर शब्द के आद्य अक्षर पर पड़ता है- महाप्राण वर्णों का प्राण, कण्ट-नालीय स्पृष्ट होकर, आद्य अक्षर में अपना स्थान बना लेता है; आद्य अक्षर के व्यञ्जन से यह कण्ठ-नालीय स्पृष्ट ध्वनि सट जाती है। जैसे— "जोध, बाघ, पढ़णो, सांझ, लाभ" = "ज'ोद, ब'ाग, प'ड़णो, स'ाँज, ल'ाब"।

(४) 'ह'-कार, कण्ठ-नालीय घोषवत् उष्म से, स्पृष्ट ध्वनि हो जाता है; आद्य "ह"-का यह परिवर्तनयथास्थान पर रहता है, किन्तु मध्य तथा अन्त्य 'ह-'कार की जगह आये हुए इस शब्द के कण्ठनालीय स्पृष्ट ध्वनि, उत्पन्न होने के साथ-ही-साथ, शब्द के आद्य अक्षर पर आ जाता है। जैसे-" है, हाथी, हंस, रह्यो, चाहणो, कह्यो, कहां (खाँ), कन्हाई, राही = 'ऐ, 'आथी, 'अंस, र'यो, च'ाणो, क'यो, क'ां (क'आं), क'नाई, र'ाई।" शब्दों के हिज्जे या वर्ण-विन्यास अथवा बनाव में बहुत स्थानों पर ऐसा देखा जाता है कि "ह" नहीं लिखा जाता है; पर उच्चारण से किसी-न-किसी समय पर "ह"-का अवस्थान सूचित होता है। जैसे-"कयो, बार" = [k'ʌyo, b'a:r], मूल रूप "कह्यो, बाहर"।

ऐसी उच्चारण-रीति इधर की बोलियों में कब से चालू हुई है? इस विषय पर आगे चल कर कुछ बोलना पड़ेगा। मैंने अन्यत्र इस पर कुछ लिखा है। ऐसा उच्चारण प्राचीन संस्कृत या वैदिक युग में प्रचलित नहीं था; संस्कृत प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थों में से इसका कुछ पता नहीं चलता; इसके लिये कोई भी नाम नहीं मिलता। महाप्राण ध्वनियों के ऐसे उच्चारण की प्रकृति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में कुछ मत-भेद दिखाई देता है। पर एक मत जो मेरे विचार में ग्रहण-योग्य है, वह यह है— ये सब परिवर्तित ध्वनि जब उच्चारित होती है, तब हवा बाहर से मुंह के अन्दर खींच लाई जाती है। ये सिर्फ मामूली तौर की 'प्रश्वसित' या 'निःश्वसित' ध्वनि नहीं हैं—पर कण्ठनालीय-स्पृष्ट-मिश्र ये ध्वनियाँ, 'आश्वसित' हैं। ऐसी कुछ अव्यक्त ध्वनियाँ होतीं हैं, जिन्हें अकसर हम करते हैं, पर जिनके लिये वर्ण या अक्षर निर्धारित या उद्भावित नहीं किये गये हैं, क्योंकि शब्दों की

बनावट में ये नहीं आती हैं। जैसे चूमा लेने की ध्वनि, घोड़े की चाल को बढ़ाने की ध्वनि, अकस्मात् किसी दुर्घटना में अफसोस प्रकाश करने की ध्वनि, इत्यादि। संस्कृत में इन्हें "शीत्कार" बोलते हैं। शीत्कार करने के समय हवा बाहर से मुंह के भीतर खींची जाती है। वैसे इन 'आश्वसित' ध्वनि "घ, झ, ढ, ध, भ = ग', ज', ड', द', ब'" के बारे में भी। अंग्रेजी में ऐसी ध्वनियों का नाम है Recursive, अर्थात् "पुनर्द्रुत" या "पुनर्धावित"; "आश्वसित" शब्द से हम भारतीय भाषाओं में ऐसी ध्वनियों की वर्णना कर सकते हैं।

"ह"-के परिवर्त में कंठनाली-पथ में उत्पन्न जो स्पृष्ट ध्वनि सुनाई देती, उसे अंग्रेजी में glottal stop कहते हैं। बहुत सी भाषा में यह ध्वनि मिलती है। अरबी में यह ध्वनि है, अरबी में इसी का नाम है, "हमज़ा" या "अलिफ़ हमज़ा"– जो शब्द के आदि, मध्य तथा अंत में हो सकती है; जैसे " 'अमर, 'असल, 'अमीर ; सा'इल, त'अम्मुल'; मा'।" जर्मन भाषा में स्वराद्य शब्द सचमुच कंठनाली-स्पृष्टाद्य ही होते हैं; जैसा Auge, Ein, Uhr इत्यादि शब्दों में। रोमक लिपि में इसके लिए कोई चिह्न नहीं था; क्योंकि यह ध्वनि प्राचीन आर्य भाषाओं की निजी ध्वनि नहीं है; इसके लिए एक काम-चलाऊ चिह्न जो रोमक लिपि में इस्तेमाल किया जाता है, वह है एक बाईं-मुंहा उद्धार-चिह्न [']। देवनागरी में इसे हम काम में लगा सकते हैं; जैसा—"रहा = रे'आ, कह्यु ं = के'युं, कन्हाई = क'नाई," इत्यादि।

राजस्थानी की इन आश्वसित ध्वनियों पर तथा "ह"-के स्थान उच्चारित glottal stop अर्थात् कंठ-नालीय

स्पृष्ट ध्वनि पर इतना विचार करना पड़ा, इस लिये कि उच्चारण की इस धारा के सहारे राजस्थानी बोलियों की जाति (अर्थात् और आर्य बोलियों के साथ इसका सम्बन्ध) निर्णय करने में एक बड़ी सहायता मिलेगी। राजस्थानी के भाषातत्त्व के विचार करने का काम, इस उच्चारण वैशिष्ट्य का विचार और इसके निदान और कारण का निर्णय किये बिना, आगे बढ़ नहीं सकता।

[ख] अब व्याकरण या रूप संबंधी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करके आज का भाषण समाप्त करूंगा।

[१] आधुनिक आर्य भाषाओं में पछांही हिन्दी की शाखाएँ ब्रजभाषा, कनोजी तथा बुन्देली, और सिंधी तथा गुजराती और नेपाली की नाईं, राजस्थानी में अब तक ज्यादातर पुंलिंग विशेष्यों में संस्कृत अ-कारान्त विशेष्य की प्रथमा विभक्ति के प्रत्यय को, परिवर्तित रूप में जीवित रखा है; जैसे, "घोटकः >घोडओ>घोडउ> घोड़ौ, घोड़ो।" हिन्दुस्तानी, मराठी, पंजाबी, पूर्वी-हिन्दी, बंगला आदि में इसका लोप हो गया है; आ-कारान्त जो प्रतिरूप इन भाषाओं में व्यवहृत होता है, जैसा "घोड़ा", वह रूप संस्कृत की प्रथमा का नहीं है, वह चाहे चतुर्थी का है< (जैसे मराठी "घोड़ा"<प्राकृत "घोड़ाअ" ∠ संस्कृत "घोटकाय"), चाहे केवल स्वार्थ में 'आ'-प्रत्यय लगाये हुये प्रातिपदिक रूप हो (जैसे बंगला, हिन्दुस्तानी [हिन्दुस्थानी], बिहारी आदि में)

[२] नाम के रूप में प्रयुक्त सुप्-प्रत्ययों में षष्ठी के "रो, रा, री" प्रत्यय (जो मालवी में तथा अहीरवाटी और मेवाती में उपलब्ध नहीं होते हैं) लक्षणीय हैं। षष्ठी के लिये

पुरानी राजस्थानी "तणो, हन्दो" प्रत्यय भी विचार करने के हैं।

[३] उत्तम तथा मध्यम पुरुष के सर्वनामों की षष्ठी के एक-वचन में "मारो या म्हारो, थारो" रूप, राजस्थानी-गुजराती की विशिष्टता है। इनसे तुलनीय, बंगला-आसामी-ओड़िया-बिहारी और कोसली "मोर, तोर", हिन्दी-पंजाबी-नेपाली "मेरौ तेरौ, मेरो तेरो, मेरा तेरा" (सहारनपुर में "म्हारा घोड़ा, थारा घोड़ा" भी सुनाई देते हैं)।

[४] उत्तम पुरुष के बहुवचन में "म्हे" और "आपाँ", ये दो रूप; "म्हें" श्रोतृ-निरपेक्ष, "आपाँ" श्रोतृ-सापेक्ष [तुलनीय—कोल (मुँडारी) "ले" = वह या वे और मैं, "बु" = तू या तुम और मैं।]

[५] निकट- तथा दूर-वाचक प्रथम पुरुष के सर्वनाम "ओ, यो" और "वो, उवो"-के स्त्री रूप "आ, या" तथा "वा, उवा।"

[६] एकवचन में इन सर्वनामों के तिर्यंक या परसर्ग-ग्राही रूपों में नासिक्य ध्वनि का आगम,—"इँ, इण, अणी; ऊँ, उण, वणी।"

[७] "जो, सो" के साथ ही साथ इनके प्रसारित रूप "जिको, तिको।"

[८] अस्ति-वाचक क्रियाओं में "आछ" धातु का प्रयोग, जो आजकल केवल जैपुरी ही में निबद्ध है।

[९] असमापिका क्रिया में, 'र'-प्रत्यय, जो पुरानी बंगला में मिलता था, आजकल केवल चटगांव की बंगला बोली में ही सीमित है। नेपाली आदि कुछ हिमाली बोलियों

में भी यह मिलता है। जैसा "ह्येर, ल्हेर, मारर, जिगर" इत्यादि।

[१०] Present Progressive अर्थात् घटमान वर्तमान के लिये यौगिक काल-रूप—वर्तमान में मूल धातु के रूप के साथ अस्तित्व-वाचक "हो" या "आछ" धातु के वर्तमान के रूप को जोड़ कर, यह बनता है। जैसा, "मैं चलूं हूं, या चलूं छूं।"

यद्यपि हिन्दी के अनुरूप शतृ-प्रत्यय-जात "अत्" प्रत्यय-युक्त वर्तमान क्रिया-नाम (Present Participle जिसे अंग्रेजी में कहते हैं) "हो" -धातु के साथ मिला कर एक काल-रूप इस घटमान वर्तमान के लिये मारवाड़ी में प्रयुक्त होता है, जैसे "मैं चलतो हूँ, चलतो छूं", वह राजस्थानी पर मध्यदेश की बोली के प्रभाव ही का फल है, ऐसा मालूम होता है।

[११] संस्कृत या आद्य भारतीय आर्य भाषा में लब्ध "स्य"-प्रत्यय-युक्त भविष्यत्, जो केवल जैपुरी तथा मारवाड़ी ही में मिलता है, मालवी-मेवाटी में नहीं।

[१२] यह भी विचारणीय है कि राजस्थानी के अपने संख्या-वाचक शब्दों में (गुजराती में जैसा) अन्त्य "ह"-कार का अस्तित्व था या नहीं : जैसे—हिन्दी "बारह, तेरह, चौदह, पंद्रह, सोलह, सतरह, अठारह", पर गुजराती "बार्, तेर्, चौद्, पन्दर्, सोळ्, सतर्, अढार्"। आजकल राजस्थानी में चालू रूप ऐसे होते हैं— "बारा, तेरा, चौदा, पंद्रा, सोळा, सतरा, अठारा", या "बारै, तेरै, चौदै" इत्यादि— "ह"-का कोई भी चिह्न या प्रभाव दिखाई नहीं देता। तुलनीय—हिन्दी

"बारह+आना = बारहाना", पर राजस्थानी "बाराना"।

" 'हियर, देयर' सोळ् आना—'इधर, उधर' बार्।
'इकड़े, तिकड़े' आठ आना— 'अठै, बठै' चार्॥"

—मराठी राजनैतिक प्रभाव के समय के इस पद का अन्त्यानुप्रास भी लक्षणीय है। इस विषय पर आगे चल कर कुछ कहूंगा।

[ग] वाक्य रीति के बारे में ज्यादा विचार करने का साधन तैयार नहीं है। ग्रियर्सन ने इस विषय पर जो दो मंतव्य किये हैं, वे ये हैं-

[१] उक्ति-वाचक क्रियाओं का अन्वय हिन्दी में तृतीया या पंचमी से होता है, राजस्थानी तथा गुजराती में चतुर्थी से।

[२] सकर्मक क्रिया के अतीत काल में जो भावे-प्रयोग होती है, हिन्दी की रीति के अनुसार, "को" लगा कर जब कर्म को सम्प्रदान बना दिया जाता है, तब क्रिया-पद कर्तृ-निरपेक्ष तथा कर्म-निरपेक्ष रहता है। वह पुलिंग का ही रूप लेता है; जैसे, "उसने स्त्री को मारा"। पर गुजराती में क्रिया उसी अवस्था में कर्म-सापेक्ष रहती है, कर्म यदि स्त्रीलिंग का होता तो क्रिया में भी स्त्री-प्रत्यय लगाया जाता है; जैसे-"तेने स्त्री-ने मारी"—पुंलिंग-का "मारो" या नपुंसक का "मार्यू" नहीं। राजस्थानी में ये दोनों रीतियां चालू हैं—संभव है कि गुजराती में संरक्षित यह रीति किसी समय की पुरानी राजस्थानी की जैसी ही है।

[३] नजर्थक अव्यय का स्थान राजस्थानी में कभी क्रिया के पूर्व, कभी पश्चात् होता है, इस पर विचार होना चाहिए।

साधारणतया, वाक्य में शब्दों के क्रम के विषय में राजस्थानी में ऐसी कुछ निजी विशेषता दिखाई नहीं देती—इसकी वाक्य-रीति और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से पृथक् मालूम नहीं पड़ती। पर इस विषय पर पूरी समालोचना होनी चाहिए। राजस्थानी में तथा इसकी पूर्व रूप पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में एक प्रौढ़ साहित्य विद्यमान है। अतः इसकी वाक्य-रीति सुनियंत्रित होनी ही स्वाभाविक है।

[घ] शब्द-विषयक।

राजस्थानी में स्वार्थे "ड़"-प्रत्यय का कुछ आधिक्य है। इस "ड़"-प्रियता अपभ्रंश की ही देन है। कुछ शब्दों के अन्त में एक "क" या "स" आता है—इन पदाश्रित वर्णों के खास कारणों का निर्णय होना चाहिए—इनके अर्थ अब कुछ नहीं है, पर संभव है कि किसी समय इन के कुछ विशेष अर्थ रहे हों। जैसे—"कतरो" या "कतरोक" = कितने; "कहां (खां) गयो", या "गयोस्" = कहां गया?

विशेष रूप से जिनसे राजस्थानी चिह्नित होती है, ऐसे शब्दों की सूची होनी चाहिए। "जिमणा (दाहिना), भाया (पुत्र), सारू (जन्य), डावड़ो (पुत्र), नाहर (बाघ), मगरो (पहाड़), बारहठ या बारठ (पुरोहित, भाट), गोला (नफर), डगर (पंथ), डुंगर (पहाड़), लुगाई (नारी, कन्या), गंडक (कुत्ता), आड़ (हंस, तुलनीय वैदिक-"आती"), सुअर (सूअर), टाबर (बच्चा)" ऐसे सैकड़ों शब्द हैं, जो खास करके राजस्थानी ही में साधारणतया प्रयुक्त होते हैं, और जिन्हें सुनते ही राजस्थान की याद आती है; इन शब्दों पर विचार होना चाहिए। इन शब्दों की निरुक्ति और विस्तृति के विचार से राजस्थानी भाषा तथा राजस्थानी बोलनेवालों के इतिहास पर कुछ न कुछ प्रकाश पड़ेगा॥

राजस्थानी भाषा

ऐतिहासिक

राजस्थानी का इतिहास

भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास की साधारण रूपरेखा ऋग्वेद से आज तक हमें उपलब्ध है। परन्तु सूक्ष्म बातों पर, एवं प्रत्येक भाषा या बोली पर, सम्पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं पड़ता। शती के बाद शती इस क्रम से इतिहास बनता आया है, पर सर्वत्र निरवच्छिन्न रूप से इस इतिहास का पुनर्गठन संभवनीय नहीं हुआ। भाषा-सम्बन्धी इतिहास का प्रारंभिक क्रम-सांकल तो ठीक है, पर इसकी बहुत-सी कड़ियाँ विभिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं के लिये नहीं मिलतीं। आर्य भाषा के उपलब्ध महत्त्वपूर्ण निदर्शन, जिनके सहारे इस भाषा की साधारण गति हम निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं, ऐसे हैं। ऋग्वेद की भाषा तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत—आद्य भारतीय-आर्य भाषा के लिये विशेषतः इन्हें हम काम में लाते हैं; प्राचीन प्राकृत, जो कि ईस्वी ४०० तक की लेखों में तथा बौद्ध और जैन धार्मिक साहित्यों में एवं नाटकादि अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलती हैं, उनसे, और महाभारत और प्राचीन पुराण आदि ग्रन्थों से (जिनकी भाषा संस्कृत होते हुए भी अधिकतया प्राकृत की छाया है) मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषा की गति की धारा हम पर्यवेक्षण कर सकते हैं। इस प्रकार लगभग ईस्वी १०० तक का इतिहास, पूरा-पूरा नहीं, पर मुख्यतया मिल गया है। आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव १,००० ईस्वी के आस-पास हुआ था; पर इस इतिहास का सम्यक ज्ञान हमें नहीं है। प्राकृत के बाद अपभ्रंश का समय आया, और अपभ्रंश में एक बड़ा साहित्य लिखा गया। पर इस साहित्य की भाषा,

खास करके जैन लेखकों के लिखे हुए लम्बे उपाख्यानों में, प्राचीनतर प्राकृत साहित्य की भाषा के आधार पर बनी एक कृत्रिम साहित्यिक शैली ही की थी। छोटी-छोटी कविता और दोहों आदि में हम मौखिक या कथित अपभ्रंश की छाया देख पाते हैं, जैसे रामसिंह मुनि के "पाहुड़-दोहा" ग्रन्थ में, राजपूत राजाओं की लिखो हुई प्रटकर कविताओं में, पूर्व के अर्थात् विहार और बंगाल के बौद्ध सिद्धों के दोहों और पदों में, हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अन्त में संगृहीत किये हुए अपभ्रंश के श्लोकों में, "प्राकृत पैंगल" में दिये हुए उदाहरणों में, और इधर उधर के कुछ दोहे आदि में भी हमें यह बात मिल जाती है। अपभ्रंश कैसे प्राकृत से निकला, इसका, तथा अपभ्रंश से कैसे आधुनिक भाषाएँ निकलो, इस विषय का भी पूरा-पूरा पता निकालना कठिन है; क्योंकि, जिन विभिन्न प्रांतिक या प्रादेशिक अपभ्रंशों के आधार पर आज-कल की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं बनी हैं, उन में से, एक मिश्रित शौरसेनी अपभ्रंश के अतिरिक्त और निदर्शन हमें नहीं मिलते। शौरसेनी अपभ्रंश का एक प्रौढ साहित्य विद्यमान है, पर उसकी भाषा प्रारंभ ही से किसी खास प्रान्त की अविकृत लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पंजाब में प्रचलित अपभ्रंश बोलियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या साहित्यिक शैली ही थी। आज-कल की गुजराती, राजस्थानी (मारवाड़ी) तथा व्रजभाषा, इनसे इस साहित्यिक अपभ्रंश का साम्य अधिकतया है; पर कभी-कभी यह साम्य हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) और पंजाबी से भी दीख पड़ता है। राजस्थानी बोलियों का (खास कर के मारवाड़ी का) संयोग, उत्पत्ति की दृष्टि से, उत्तर भारत के किस प्रान्त की भाषा से है, इसका विचार करना राजस्थानी के इतिहास का पहिला और सबसे जटिल प्रश्न है।

भारतवर्ष में आर्य भाषा के प्राथमिक इतिहास हमें पूर्णतया विदित नहीं है। अब तक इस विषय का जो ज्ञान हमें उपलब्ध हुआ है

उस पर प्रकाश डालना, राजस्थानी या और किसी भारतीय नव्य-आर्य भाषा की उत्पत्ति और पुराने इतिहास पर विचार करने के लिये आवश्यक होता है।

जहां तक हमें पता चला है, भारत की भूमि पर किसी प्रकार के मनुष्य का उद्भव नहीं हुआ; यहाँ के समूचे अधिवासियों के पूर्वज लोग भारत के बाहर से आकर यहां उपनिविष्ट हुए थे। ऐसा हो सकता है कि नये प्रमाण के मिलने से (जैसे किसी प्रकार के आदि मानव की हड्डी आदि), इस मत का परिवर्तन करना पड़ेगा; पर अब तक हम यह कह सकते हैं कि बाहर के मानव, एक के पीछे दूसरे कई लहरों में भारत में आये, और यहां बसे; और इन मानवों की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के मिश्रण से भारतवर्ष की प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृति बनी। नृतत्त्वविद् पण्डितों का नव्यतम मतवाद यह है कि कम से कम सात विभिन्न जातियोंके मानवोंके आगमन विभिन्न समय पर भारत में हुए थे; इन सात जातियों के मानवों में कई उपजातियां भी थीं। भारत के सबसे प्राचीन मानव थे अफ्रिका से आये हुए Negroid नेग्रोइड अथवा Negrito नेग्रीटो, अर्थात् 'निग्रो'-आकार या 'निग्रोबटु' लोग; कृष्ण-वर्ण, खर्व-काय, ऊर्णा-केश, दीर्घ-कपाल, पृथुल-नासिक, उच्च-हनू ये निग्रोबटु लोग, अरब तथा ईरान के समुद्र-कूल की राह से भारत में आ पहुँचे थे। ये Eolithic अर्थात् उषःप्रस्तर-युग के मानव थे, जो युग भारत में इन को आश्रय कर आज से लगभग छः या सात हजार वर्ष पूर्व चालू था। इन में किसी प्रकार की सभ्यता का विकास नहीं हुआ था, वे लोग food-gatherers अर्थात् खाद्य-ढूँढनेवाले थे, खेती या पशु-पालन द्वारा food-producers अर्थात् खाद्य-उपजानेवाले नहीं थे। कुछ निग्रोबटु लोग भारत की भूमि छोड़ कर अन्दमान टापू में जाकर बसे थे; अब तक वहां उनका एक छोटासा दल विद्यमान है, जिसमें उनकी अपनी भाषा सुरक्षित है। भारत की भूमि में निग्रोबटु लोग इस समय लुप्त हो गये हैं। इनके आने के बाद जो जातियाँ भारत में आईं,

चाहे उनके द्वारा इनका ध्वंस हुआ, या इनकी पृथक् सत्ता विनष्ट हो गई और ये नवागत जातियों में मिलित हो गये। इनकी भाषा का कोई भी निदर्शन भारत में रक्षित नहीं हुआ; पर यह हो सकता है कि इनकी भाषा के दो-चार शब्द, इनके पीछे आनेवाली जातियों की भाषा में गृहीत हो गये, और यों ये शब्द सम्भवतः आज तक रक्षित हुए हैं। निग्रोबटुओं के बाद भारत में आये थे Proto-Australoids अर्थात् 'प्राथमिक दाक्षिणाकार' जाति के लोग; ये थे कृष्ण- या श्याम-वर्ण, मध्यमाकार, दीर्घ-कपाल, पृथुल-नासिक चेहरे के मनुष्य। समग्र भारत में इनका फैलाव हुआ था, और भारत के निम्न श्रेणी के लोगों में उनके वंशज ज्यादातर मिलते हैं। Proto-Australoid या 'प्राथमिक दाक्षिणाकार' जाति के परिवर्तन से Austric अर्थात् 'दाक्षिण' अथवा दक्षिण-देश की जाति भारत भूमि पर बनी, जो भील और कोलों के आदि रूप हैं। इनमें जो भाषा चालू थी, ऐसा अनुमित होता है कि उसी का विकास भारत-भूमि पर तथा भारत के बाहर के देशों में हुआ। आज-कल की Kol कोल अथवा Munda मुण्डा-श्रेणी की भाषाओं, आसाम की Mon-Khmer मोन्-ख्मेर् श्रेणी की खासी भाषा, तथा भारत-चीन और भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण पूर्व के द्वीप-पुञ्जों की विभिन्न भाषाओं की उत्पत्ति, इस मौलिक अस्ट्रिक या 'दाक्षिण' भाषा से ही है। 'प्राथमिक दाक्षिणाकार' जाति के लोग भारत में आये हुए आर्यों के द्वारा 'निषाद' कहलाते थे। इस निषाद जाति के लोगों ने भारत की कृषिमूलक सभ्यता की नींव डाली थी। गंगा की उपत्यका में इनकी बस्ती ज्यादातर हुई थी, और वहाँ ये लोग धीरे-धीरे द्राविड़ तथा आर्य लोगों से मिल गये; ऐसे उत्तर भारत की जनता की बनावट में ये एक मुख्य उपादान बने। इनकी विभिन्न उप-जातियाँ थीं, जिनमें दो मुख्य थे 'भिल्ल' और 'कोल्ल' लोग;—जिनके उत्तर पुरुष ये हुए— राजपुताने और मालवे के 'भील' लोग, और मध्य तथा पूर्व भारत के कोरकु, सन्थाल, मुन्डारी, हो, शबर, गदब आदि 'कोल'

जाति के मनुष्य। गंगा-यमुना के देश से विंध्य तक पहाड़ों और जंगलों से आच्छादित जो भू-खण्ड है, वहीं भील और कोलों का खास स्थान बना। मध्य और पूर्व राजपूताना तथा मालवा प्रांत, पहिले पहल 'प्राथमिक दाक्षिणाकार' निषाद वंश के इन भिल्ल या भीलों के द्वारा ही अध्युषित थे; इन भीलों की अनार्य भाषा का प्रभाव राजपूताने और मालवे की भूमि पर उपनिविष्ट आर्यों की भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही था। भारत में आर्य भाषा के विकास के इतिहास की चर्चा में, इस आर्य भाषा पर अनार्य भाषाओं का प्रभाव कब से और कैसे पड़ा, इसका विचार भारतीय भाषा-तत्त्व में विशेष महत्त्वपूर्ण है; और यह विचार थोड़ा कुछ किया गया भी है। भीलों की भाषा अब लुप्त हो गई है, पर यह मृत भाषा कैसी थी, उसका अनुमान कोरकु, सन्थाली, मुंडारी आदि भील जाति से संपर्कित कोल जाति के लोगों की जीवित भाषाओं से, कुछ-कुछ हो सकता है। भारतीय सभ्यता में निषाद या कोल लोगों की देन का विचार, कोल भाषाओं से आये हुए आर्य भाषा के शब्दों से हो सकता है। आर्य लोगों के आने के बाद उत्तर भारत के पुराने अधिवासी निषाद, द्रविड़ तथा किरात या मोंगोल जातियों के लोग, अपनी-अपनी भाषाओं को त्याग देकर आर्य भाषा को अपनाने लगे, ऐसे ये (विशेष करके नदी-मातृक समतल भू-भागों में) धीरे-धीरे आर्य-भाषी एक नई मिश्रित जाति अर्थात् हिन्दू जाति में छिप गये। 'प्राथमिक दाक्षिणाकार' या निषाद लोगों के पीछे आये Mediterranean अर्थात् भूमध्य-सागरीय जाति के लोग—ये ज्यादातर श्याम-वर्ण, मध्यमाकार, सरल-नासिक तथा दीर्घ-कपाल चेहरे के थे, और इनमें कई तरह की शाखाओं के मनुष्य भी थे। ऐसा साधारणतया स्वीकृत होता जाता है कि इस भूमध्य-सागरीय जाति के मनुष्य जो भारतवर्ष में आर्यों के द्वारा "दास" या "दस्यु" और बाद में "द्रमिड, द्रविड़, और द्राविड़" कहलाये, वास्तव में द्राविड़-भाषी थे; पूर्व-ईरान से लेकर अफगानिस्तान, पंजाब, सिन्ध तथा पश्चिम और

दक्षिण भारत में इनका प्रसार हुआ; हड़प्पा तथा मोहेन-जो-दड़ो की नागरिक सभ्यता को इन्होंने ही गठित किया था, और पहिले-पहल नवागत आर्यों से इनके संघात के बाद आर्यों से इनका संयोग हुआ, इनके धर्म और इनकी संस्कृति के साथ आर्य धर्म तथा आर्य संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया; इन दोनों जाति, धर्म तथा संस्कृति के ताने-बाने से, प्राचीन हिन्दू भारत की जाति, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति बनी। द्राविड़-भाषी भूमध्य-सागरीय जाति के लोगों की प्रतिष्ठा भारत की भूमि पर ईसा के पूर्व लगभग ४००० वर्ष से हुई थी। द्राविड़-भाषी लोग ज्यादातर उत्तर-पश्चिम सीमान्त, पंजाब और सिन्ध-प्रदेश में बसे थे, और गुजरात-काठियावाड़ की राह से दक्षिण में भी इनका फैलाव हुआ था—समग्र दक्षिण में इनकी भाषा के लिये निरवच्छिन्न रूप से एक विशाल क्षेत्र बना। इसके अलावा, पूरब में गंगा नदी की उपत्यका में भी द्राविड़ लोग बस गये थे, ये पूर्व से उपनिविष्ट निषाद या कोल लोगों के पड़ौसी बने। द्राविड़ भाषा सुसभ्य नागरिक जाति की भाषा थी। द्राविड़ों का धर्म सुनियत था; इनमें योग-दर्शन और योग-चर्या का उद्भव हुआ था; फूल, पत्ता, चन्दन, जल आदि से पूजा करने की रीति इन्ही को धार्मिक रीति थी; शिव, उमा, विष्णु, लक्ष्मी आदि हिन्दू पौराणिक देवताओं की लोकोत्तर कल्पना, मुख्यतया इन्हीं की देवानुभूति की देन है। निषाद या कोल भाषा के साथ ही साथ प्राचीन द्राविड़ भाषा का गहरा प्रभाव आर्य भाषा पर पड़ा—संस्कृत में सैंकड़ों द्राविड़ तथा अस्ट्रिक शब्दों ने परिवर्तित रूप में अपने स्थान बना लिये। राजस्थानी भाषा की उपज के पहिले ही से राजपूताना-मालवे की आर्य भाषा पर निषाद तथा द्राविड़ भाषाओं का असर पड़ा। राजस्थानी के पूर्व रूप में, तथा खास राजस्थानी में, इन अनार्य भाषाओं की रीति, इनके शब्द, इनकी ध्वनियां कहां तक आ गई हैं, यह विचारणीय है।

निषाद और द्राविड़, इन दोनों के अतिरिक्त पृथक् और एक श्रेणी की अनार्य-भाषा और उस भाषा की बोलनेवाली जाति का आगमन भारतवर्ष में हुआ था—यह भाषा थी Sino-Tibetan या चीन-भोट श्रेणी की भाषा (जो अपनी विभिन्न बोलियों में थी), और चीन-भोट-भाषा बोलनेवाली जाति थी Mongol या Mongoloid 'मोंगोल' या 'मोंगोलाकार' जाति, जिसके मनुष्य नाटे कद, पीत वर्ण, उच्च हनु, पृथु नासा तथा सूक्ष्म चक्षु के थे, जिनका सिर कभी था दीर्घ-कपाल, कभी ह्रस्व-कपाल। ये मोंगोल लोग लगभग ईसा के पूर्व १००० वर्ष से कुछ पहिले ही बर्मा और तिब्बत की राह से पूर्व भारत में तथा हिमालय के दक्षिण के पहाड़ी स्थानों में आकर बसने लगे; आर्यों में इनका नाम था 'किरात'। नेपाल, उत्तर-बिहार, उत्तर-बंगाल, आसाम तथा पूर्व-बंगाल की आधुनिक हिन्दू, बौद्ध तथा मुसलमान जनता में इन किरात लोगों ने अब अपनी पृथक् सत्ता को मिटा दिया है; पर इन प्रान्तों की भारतीय सभ्यता के विकास में किरात लोगों ने काफी अंश लिया था। परन्तु उत्तर भारत की गांगेय उपत्यका में, पंजाब में, राजपूताने और मालवे में किरात लोगों का प्रभाव नहीं पड़ा।

दाक्षिण या निषाद या कोल; द्राविड़; और किरात—ये तीन अनार्य जातियों से मिली एक नई जाति, जिसके आगमन से भारत की सभ्यता ने अपनी निजी मूर्ति को प्राप्त किया। यह नई जाति थी आर्य भाषाओं की। ऊराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व रूस देश में आदि आर्य जाति का अपना प्राचीन निवास या क्षेत्र था। वहां से आर्य जाति के लोग, जो चेहरे में दीर्घ-काय, गौर-वर्ण, दीर्घ-कपाल, हिरण्य-केश, नील- या पिंगल-नेत्र, और ऋजु-नासिक थे; ये पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैले, और इनके एक दल या उपजाति का आविर्भाव हुआ, ईसा से लगभग २५०० वर्ष पहले, उत्तर मेसोपोतामियां (ईराक) देश में। यहाँ के उपनिविष्ट आर्यों में से कुछ गोत्र उसी प्रान्त में रह गये, और कई

शतियों में ये स्थानीय असुर या अशुर अर्थात् आसिरीय तथा बाबिल प्रभृति कौमों द्वारा आत्मसात् किये गये। कुछ आर्य गोत्र पूर्व में ईरान तथा भारत की ओर बढ़े, और ऐसे सुसभ्य तथा शक्तिशाली आसिरीय-बाबिल जाति के मनुष्यों के साथ संयुक्त रहने से इनको छुटकारा मिला; परिणाम इसका यह हुआ कि इन गोत्रों के आर्यों की भाषा और संस्कृति और इनकी जातीय विशिष्टता नष्ट नहीं हुई, ये सुरक्षित रही। उत्तर-मेसोपोतामिया में रहने के समय सम्भवतया ऐसा मालूम होता है कि, उस स्थान के आर्यों से कुछ अन्य जाति के लोग, जो दैहिक गठन में आर्य जैसे दीर्घ-कपाल नहीं थे, प्रत्युत ह्रस्व-कपाल थे, आर्यों के साथ सहवास के कारण आर्यों की भाषा को अपना कर, आर्य लोगों में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार ईसा के पूर्व २५०० वर्ष के बाद किसी भी समय पर, भारत में जो आर्य-भाषी आये, उनमें दीर्घ-कपाल शुद्ध आर्य भी थे, और भाषा में आर्य बनाए गए ह्रस्व-कपाल जाति के लोग भी थे। जब आर्य-भाषी लोग अपने देवताओं के स्तवों को लेकर गाते हुए भारत भूमि में पधारे, तब उनको ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि वे ईरान से किसी नये देश में आ रहे हों; क्योंकि पूर्व-ईरान में जिन अनार्य अधिवासियों से नवागत आर्य विजेताओं का साक्षात्कार हुआ था, वे पूर्व-ईरान से लेकर समग्र पश्चिम-भारत में फैले थे। देश के निवासी एक ही होने के कारण आर्य-भाषियों में ऐसा बोध होने नहीं पाया कि ये किसी नये देश में प्रवेश कर रहे हों;—वैदिक साहित्य में आर्यों के विदेश अर्थात् पश्चिम और ईरान से भारत में आने का वर्णन नहीं है।

आर्य-भाषी लोग पश्चिम से आकर भारत में—सीमान्त-प्रदेश तथा उत्तर-पंजाब में—बसे। देश जनहीन या खाली नहीं था—इसमें द्राविड़ तथा निषादों की यथेष्ट आबादी थी—सुसमृद्ध नगर आदि देश में थे। यायावर-वृत्त आर्य-लोग वास्तव में सभ्यता में द्राविड़ों से पीछे ही थे। पर कुछ नैतिक गुणों के तथा अपनी संहति-शक्ति के कारण, आर्य-लोग द्राविड़ और निषाद अनार्यों पर अपना अधिकार जमा ले सके।

धीरे-धीरे आर्यों की भाषा फैलती गई। पूर्व की तरफ आर्यों के प्रसृत होने के साथ, एक तो आर्य शोणित के मनुष्यों के द्वारा आर्य-भाषा का प्रसार हुआ; उपरंतु, अनार्य द्राविड़ तथा निषाद और किरात लोग भी पराक्रांत विजेता आर्यों की भाषा को अपनाने लगे। ऐसे, सात-आठ सौ बरसों के बीच, आज-कल के अफगान सीमान्त से लेकर पूर्व-बिहार तक, उत्तर-भारत के विशाल भू-भाग के ऊपर आर्य-भाषा की स्थापना हो गई।

आर्यों में विभिन्न गोत्र थे; इन विभिन्न गोत्रों में आर्य-भाषा की कुछ-कुछ ख़ास विशिष्टता होती थी। फिर, अनार्यों के मुंह से आर्य-भाषा का परिवर्तन होने लगा। ऐसे मौलिक गोत्रीय पार्थक्यों के साथ, अनार्यों के प्रभाव से, विभिन्न प्रान्तों की आर्य-बोलियों में कुछ-कुछ और स्पष्ट पार्थक्य नजर आने लगे। अफगानिस्तान से बिहार—इस भू-खण्ड पर प्रतिष्ठित आर्य-भाषा में, ब्राह्मण-ग्रंथों के समय से अर्थात् खीस्त-पूर्व ८०० -६०० में, प्रान्तिक विभेदों के उल्लेख हमें उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की भाषा के सूक्ष्म विचार से मालूम होता है कि उसमें कम-से-कम तीन विभिन्न बोलियों का सवाल है; एक—पश्चिम-पंजाब की आर्य बोली, जो ईरानी की पड़ौस की बोली थी; इसी के आधार पर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा 'छान्दस' बनी थी। इसके मुख्य लक्षण थे ये—(१) ईरानी के सदृश केवल 'र'-ध्वनि का रीवाज, 'ल' इसमें नहीं आता था; (२) 'घ ध भ'-को ह-कार बना देने की प्रवृत्ति भी इस में थी; (३) 'ड ढ' शब्द के मध्य में आने से 'ळ ळ्ह' हो जाते थे। दूसरी वैदिक बोली थी ऐसी कोई बोली, जो शायद ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के समय मध्य-देश में स्थापित हुई; इसमें 'र' और 'ल' दोनों ध्वनियां थीं; 'ड ढ' का परिवर्तन नहीं होता था। तीसरी वैदिक बोली थी वैदिक के क्षेत्र के पूर्व-तरफ-वाली; इस में 'र' का अभाव था, केवल 'ल' ही था। यह तीसरी बोली भविष्य की मागधी प्राकृत हीं का आधार था। अफगानिस्तान से गंगा और यमुना तक जब आर्य-भूमि का फैलाव था, तब आर्य भाषा की ये तीन मुख्य बोलियाँ थीं। उस समय, अर्थात् ऋग्वेद

की ऋचाओं की रचना के समय, न राजस्थान की तरफ न सिंध-प्रदेश की तरफ आर्य भाषा आगे बढ़ी थी। ऋग्वेद के लोग शायद केवल उत्तर राजस्थान की मरुभूमि से ही परिचित थे, जिसे ये "धन्वन्" कहते थे। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के समय, अर्थात् ख्रीस्त-पूर्व १००० के आस-पास, आर्य लोग मध्यभारत की ओर आ गये, ताकि मालव-देश तक कुन्ति और वीतहव्य वंश के आर्य अभिजात लोगों ने अपना अधिकार बना लिया था। ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना के समय, अर्थात् बुद्धदेव और महावीर स्वामी के समय से कुछ पहले, आर्य-भाषी लोगों को "दक्षिण पर्वत" अर्थात् विन्ध्यगिरि का पता चला, और विंध्य के दक्षिण के विराट भू-भाग के सम्बन्ध में इन्हें खबर मिली; दक्षिणापथ के अधिवासी अनार्य अन्ध्र, शवर, पुलिन्द और मूतिब आदि जाति के नामों से भी उत्तर-भारत के आर्य लोग परिचित हुए। पर बुद्ध के पूर्व के समय आर्य भाषा का प्रसार राजपुताने तथा मालवे में कहां तक हुआ था, इस का कोई भी पता नहीं है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के कहने के अनुसार इतनी ही खबर हमें मिलती है कि उत्तर-भारत में आर्यावर्त्त, गन्धार से लेकर विदेह तक (अर्थात् सीमान्त-प्रदेश से उत्तर-बिहार तक), विस्तृत हुआ था, और इस आर्यावर्त की भाषा तीन मुख्य विभागों में विभाजित की जा सकती थी—(१) "उदीच्य" अर्थात् सीमान्त-प्रदेश तथा उत्तर-पंजाब (और संभवतः काश्मीर) की बोली; (२) "मध्य-देशीय" अर्थात् आज-कल के पूर्व-पंजाब और पश्चिम-संयुक्त-प्रदेश की बोली; और (३) "प्राच्य" अर्थात् पूर्व संयुक्त-प्रदेश और बिहार-प्रांत की बोली। किसी "दाक्षिणात्य" अर्थात् दक्षिण-देश की आर्य बोली का, या राजपूताना-मालवे की बोली का ज़िक्र ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहीं भी नहीं आया। पर यह संभव है कि शूरसेन अर्थात् मध्यदेश के मथुरा-प्रान्त से आर्य भाषा मत्स्य-देश अर्थात् आज-कल के जयपुर-प्रान्त में फैली थी; और वैसे ही मध्य-देश की बोली अश्वक या अश्मकों के देश से (अर्थात् उत्तर-मालव से) अवन्ति (अर्थात् दक्षिण-मालव-देश) तक फैल रही थी। उदीच्य, मध्य-देशीय

तथा प्राच्य बोलियों के लक्षणों के बारे में हमें कुछ-कुछ पता चला है; पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय के मत्स्य, अश्वक तथा अवन्ति की बोली या बोलियों के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं होने पाई;—सम्भवतः उस समय यह मध्य-देशीय बोली ही थी।

बुद्ध के समय और उनके बाद के ब्राह्मण और गृह्य-सूत्रों के समय तथा महाराज अशोक मौर्य के समय, आर्य-भाषा गोदावरी तक पहुँची थी, सौराष्ट्र में भी स्थापित हुई थी; इससे विदित होता है कि ईसा के पूर्व सहस्त्राब्दी के द्वितीयार्द्ध में राजपूताना भी आर्यावर्त के अन्तर्भुक्त बना था। पर सौराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर और अवन्ति के लोग बौधायन धर्म-सूत्र के कथन के अनुसार "संकीर्ण-योनि" अर्थात् अनार्य-मिश्र जाति के थे।

महाराज अशोक मौर्य के लेख भाषातात्त्विक दृष्टि से निहायत महत्त्व-पूर्ण हैं। अशोक की राजधानी थी पाटलिपुत्र नगरी, जिसके स्थान पर अब पटना नगरी विद्यमान है। वहां की भाषा थी प्राच्य प्राकृत। राज-सभा में और उच्च घरानों में शुद्ध प्राच्य प्राकृत ही बोली जाती थी; पर निम्न श्रेणी के लोग प्रान्तिक मागधी बोली ही बोल लेते थे, जो प्राच्य प्राकृत का ही एक रूपभेद था। प्राच्य के इस मागधी रूपभेद में खास बात यह थी कि मागधी में केवल तालव्य 'श' की ध्वनि मिलती थी। अस्तु, अशोक के अनुशासन राजधानी की कचहरी में वहीं की भाषा में लिखे जा कर, पहाड़ों के गात्रों पर तथा स्तंभों पर खुदवाने के लिए विभिन्न सूबों यानी प्रान्तों के शासनकर्त्ताओं के मुख्य नगरों को भेजे जाते थे। प्रान्तों के लोगों के लिए राजधानी में बनी हुई पांडु-लिपि की भाषा जहां-जहां सहज-बोध्य होती तहां-तहां ज्यों के त्यों प्राच्य बोली में ही राजा के अनुशासन खुदवाए जाते थे। पर जहां की बोली में प्राच्य की बोली से कुछ ज्यादा पार्थक्य था, वहां अनुशासन स्थानीय बोलियों में अनुवादित होकर खुदवाए जाते थे। ऐसे जयपुर बैराट के

अनुशासन की भाषा शुद्ध प्राच्य ही है; पर काठियावाड़ गिरनार के अनुशासन की भाषा अशोक की राजधानी की प्राच्य प्राकृत नहीं है, यह स्थानीय सौराष्ट्र की बोली ही है, यद्यपि इसमें कहीं कहीं प्राच्य प्राकृत की मूल पांडु-लिपि के प्रभाव के कारण कुछ प्राच्य रूप आ गए हैं। इस कदर, गन्धार-प्रांत की शाहबाज़-गढ़ी और मानसेहरे के लेखों की भाषा उदीच्य बोली है, पर इसमें भी कुछ प्राच्यपन दिखाई देता है।

ईस्वी सन् १६०० तक पश्चिमी-राजस्थान (मारवाड़) तथा गुजरात की भाषा एक ही थी। ईसा के पूर्व की तृतीय शती की, राजस्थान से संपर्कित सौराष्ट्र की भाषा का निदर्शन गिरनार (जूनागढ़ राज्य) लेख से उपलब्ध हुआ है। यह भाषा, सौराष्ट्र में कहां से और किस तरह से आई? यह शौरसेनी या मध्य-देश की प्राकृत बोली का ही एक प्रकार या विशेष रूप था, या यह शौरसेनी से पृथक् बोली थी? पर अशोक के अनुशासनों में कहीं भी मध्य-देश की प्राकृत का प्रयोग नहीं हुआ। ईसा के पूर्व के समय के मध्य-देश की प्राचीन प्राकृत का परिचय मिलता है—पाली से, ईसा के पूर्व की द्वितीय शती के कलिंग के महाराज खारवेल की लिपि से, और ईस्वी द्वितीय शतक में बौद्ध दार्शनिक धर्म-गुरू तथा संस्कृत के महाकवि अश्वघोष के लिखे हुए कुछ संस्कृत नाटकों से। पाली, दर असल मध्य-देश ही की भाषा का साहित्यिक रूप है, मगध की बोली के आधार पर पाली नहीं बनी—यद्यपि चालू तौर पर अभी तक ज्यादा विद्वानों का विश्वास है कि पाली और प्राचीन मागधी प्राकृत एक ही बोली है। कलिंगराज खारवेल ने जिस भाषा में अपने लेख को लिखवाया था, वह सचमुच मथुरा-प्रान्त से आये हुए अपने जैन गुरु या शिक्षकों की निजी शौरसेनी थी; खारवेल की यह भाषा पाली से खूब मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त, अश्वघोष ने अपने नाटकों में पुरानी शौरसेनी ही का व्यवहार किया था, यह निश्चित है। इन सबों में से जिस पुरानी शौरसेनी या मध्यदेशीय प्राकृत का पता

चलता है, उससे, अशोक के गिरनार लेख में तथा अन्यत्र प्राप्त सौराष्ट्र की प्राकृत का यथेष्ठ पार्थक्य है।

मध्य-देश की प्राकृत (पुरानी शौरसेनी) और सौराष्ट्र की प्राकृत में जो पार्थक्य हैं, उनका विचार इस समय करना नहीं चाहता हूँ; गिरनार लेख की भाषा से उसके पाली प्रतिरूप मिला कर देखने से ही इसका पता चलेगा। पर एक-दो मोटी बातों पर कुछ विचार होना चाहिए। ध्वनियों में, सौराष्ट्र की प्राकृत के ये वैशिष्ट्य लक्षणीय हैं: आद्य 'द्व'-ध्वनि 'ब'-कार की ओर परिवर्तित होनेवाली थी; 'द्वादश' के स्थान पर 'द्बादस'; सौराष्ट्र की भाषा में ईसा के समय के आसपास यह 'द्ब' पूरी तौर पर 'ब' ही हो गया था—'द्वौ, द्वे' के स्थान पर 'बे', 'द्वारका' के स्थान पर 'बारका' (जिसे ईस्वी प्रथम शती में गुजरात-प्रान्त में आये हुए ग्रीक-लोगों ने अपनी भाषा में Barakhé और Baraka ऐसा लिखा था); उस कदर 'त्म, त्व' भी 'प'-कार की ओर आगे बढ़े—जैसे 'परित्यज्य' के स्थान पर 'परित्यजित्वा' रूप का सौराष्ट्री परिवर्तन 'परिचजित्पा', 'आलभ्य = आलभित्वा' के स्थान पर 'आरभित्पा', 'दर्शयित्वा' के स्थान पर 'दसयित्पा = दस्सयित्पा', इत्यादि; 'आत्म'-के स्थान पर 'आत्प'; यह 'त्प' बाद में 'प्प' हो गया। संस्कृत के 'ऋ'-कार का मध्य-देश में ज्यादातर 'इ' हो गया, पर यहां की बोली में यह 'अ' ही होता था। 'स्त, ष्ठ'-का समीकरण 'त्थ, ट्ठ' मध्य-देश में साधारण था, पर सौराष्ट्र में यह 'स्त' अपरिवर्तित ही रहता था, और 'ष्ठ' होता था 'स्ट'। संस्कृत के 'क्ष'-का परिवर्तन मध्य-देश में साधारणतया 'ख, क्ख' था, पर सौराष्ट्र में था 'छ, च्छ'। 'व्य' का रूप मध्य-देश की बोली में बना 'ब्ब', जैसे पाली में; पर सौराष्ट्र में यह 'व्य' ही रहता था। जैसे—'अस्ति'—मध्य-देश में 'अत्थि', सौराष्ट्र में 'अस्ति'; 'तिष्ठति'—'तिट्ठति', सौराष्ट्र में 'तिस्टति'; 'क्षुद्र'—मध्य-देश में 'खुद्द', प्राच्य में '*खुद्ल', 'चुल्ल', 'खुल्ल', 'खुड्ड', पर सौराष्ट्र में 'छुद = छुद्द;' 'वृक्ष'— प्राच्य और मध्य-देश में 'रुक्ख', सौराष्ट्र में 'व्रछ = व्रच्छ; 'क्षमितुम्'—मध्य-देशीय

'खमितु', सौराष्ट्र 'छमितवे'; 'कर्तव्यम्'—'कत्तव्वं', सौराष्ट्र 'कतव्यं' (लिखित रूप 'कतय्वं'), प्राच्य में 'कटविये' = 'कट्टविये'; इत्यादि। नाम-शब्दों के रूपों में, सप्तमी विभक्ति का चिह्न प्राच्य में बना 'स्सि', मध्य-देश में इसके रूप हो गये 'ए' तथा 'स्सिं, म्हि', पर सौराष्ट्र में यह केवल 'म्हि' ही था। ध्वनियों के अतिरिक्त, शब्द तथा धातुओं के रूपों में, सुप्-तिङ् प्रत्ययों में, कुछ पार्थक्य दिखाई देते हैं।

इन सब बातों से ऐसा निष्कर्ष होता है कि, जो प्राकृत अशोक के समय गुजरात-प्रान्त में (एवं संभवतः मारवाड़-प्रान्त में भी) बोली जाती थी, वह शौरसेनी या मध्यदेशीय प्राकृत से कुछ अलग या विभिन्न थी। अर्थात्, ऐसा हम कह सकते हैं कि, प्राकृत या मध्य-युग की आर्य भाषा, गुजरात काठियावाड़ तथा मारवाड़-प्रान्तों में, मध्य-देश या शूरसेन-जनपद से नहीं फैली थी—यहां आर्य भाषा का प्रथम आगमन हुआ था, उत्तर-भारत के ओर किसी प्रान्त या जनपद से।

उत्तर काल में, ईसा के बाद के प्रथम वर्ष-सहस्रक के द्वितीयार्ध से, मध्य-देश या शूरसेन से मारवाड़-गुजरात का घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ था; पर जो आर्य बोली इधर सबसे प्रथम आई, ऐसा प्रतीत होता है कि वह पश्चिम-पंजाब प्रान्तों से ही आई थी; पर किस राह से आई थी, इसका कोई भी पता अब नहीं चलता। यह सिंध की राह से आ सकती थी; आजकल के हिसार, शेखावटी, जयपुर, अजमेर, उदयपुर की राह से भी आ सकती थी। ऐसे अनुमान के कुछ कारण हैं। पश्चिम-पंजाब की बोली से सौराष्ट्र की बोली का कुछ विशेष मेल अशोक के समय से भी दीख पड़ता है। परवर्ती काल में जब नई-नई विशेषतायें प्रकट हुईं, तब वे राजस्थानी-गुजराती में तथा पंजाबी में (खास करके पश्चिमी-पंजाबी में) साथ-साथ दृष्टिगोचर हुई। आद्य 'द्व' का 'ब' होना; कुछ संयुक्त व्यंजनों में समीकरण का अभाव; 'च' का 'छ' भाव; इन सब विषयों में गंधार या उदीच्य-खंड के शाहबाज़-गढ़ी और मानसेहरे के

अशोक-लेखों की भाषा से गिरनार की भाषा का साम्य नजर आता है। आज-कल की पश्चिम-पंजाबी से राजस्थानी (मारवाड़ी तथा जैपुरी बोलियों) का कुछ लक्षणीय मेल है; जैसे भविष्य-काल की क्रिया के तिङ्-प्रत्यय, जो संस्कृत 'स्यति स्यतः स्यन्ति'-आदि से उत्पन्न हुए हैं, राजस्थानी और गुजराती तथा पश्चिमी-पंजाबी में अपने 'स'-कार की रक्षा करते हुए आज तक चले आए हैं। पश्चिमी-पंजाबी तथा सिंधी में जैसे कर्मवाचक, सम्बन्धवाचक तथा सम्प्रदान वाचक सर्वनाम-द्योतक शब्दांश, नाम और क्रिया के पीछे जोड़े जाते हैं, वैसे राजस्थानी में भी कहीं-कहीं (जैसे जैपुरी में) नजर आते हैं; यथा, लहन्दी या पश्चिमी-पंजाबी 'के नाँउ-सू'='क्या नाम-उसका', 'के नो-ने'='क्या नाम-तेरा', 'कुफरी घरहि-स्मे-'='कुफरी घर-में-हमारे (है)', 'मारसा-ऊँ'='मैं-तुझे-मारूंगा', 'न विस्सरसु-म्'='न बिसर-जायगा-मुझ-से', 'मैं मारेआ-ने'='मैं-ने मारा-उन्हें', इत्यादि; सिंधी—'कालह मूँ ड'ाह रूपया ड'ेन-से'='कल मैं-ने दस रुपये दिये-उसे'; 'छो थो पाणी विमीं-में'='क्यों तू-ने पानी फेंका-मुझ-पर', 'आँ बेठो हून्दोसाँ-ए'='मैं बैठा रहूंगा-तेरे-लिये'; ऐसे वाक्यों से तुलना कीजिये—जैपुरी, 'मां-नै-स'='मां-की-उसकी'; 'राणी पुछी-स्'='रानी पूछी उसने'; 'कहां गयो-स्'='कहां गया-वह ?'; 'मैं-स्'='मैं-हूँ-यह'; इत्यादि। घोष महाप्राण वर्ण तथा ह-कार के उच्चारण के सम्बन्ध में मैंने मेरे प्रथम भाषण में जो कहा था, उसको स्मरण करना चाहिए। राजस्थानी (मारवाड़ी, गुजराती) के उच्चारण की एक खास बात यह है; इस मामले में मारवाड़ी-गुजराती का मेल पश्चिमी-पंजाबी से है, कुछ-कुछ सिंधी से भी है, पर मध्यदेश की बोली से नहीं है। घोष महाप्राण वर्णों का तथा ह-कार का यह खास या विशिष्ट उच्चारण गुजराती-राजस्थानी में कब से चालू हुआ था, इसका ठीक पता नहीं है। अब ह-कार जहां उच्चारण में कंठतालीय-स्पृष्ट-ध्वनि होकर अपने स्थान से दूर चला गया है, अपभ्रंश में तहां पूरा 'ह'-वर्ण ही मिलता

है। इससे स्थिर निष्कर्ष निकालना कठिन है। पूरी तौर से 'ह' लिखते हुए भी, उच्चारण में इसे कंठ-तालीय स्पृष्ट-ध्वनि बनाना कुछ असंभव नहीं था। जैसा अब होता है। ऐसे उच्चारण के कई कारण हो सकते हैं; एक—पश्चिम (तथा पूर्व) पंजाब में जो अनार्य-लोग रहा करते थे—ज्यादातर ये द्राविड़-भाषी ही थे, ऐसा प्रतीत होता है;—उन्हीं के पर्याय के लोग पश्चिम-राजपुताना तथा गुजरात के भी आदिवासी थे, अर्थात् पंजाब, सिंध, मारवाड़, गुजरात (सोरठ) के अनार्य-लोग अधिकतया द्राविड़-भाषी ही थे, जिनके मुंह में आर्य-भाषा के घोष महाप्राण वर्ण तथा ह-कार का उच्चारण कठिन प्रतीत हुआ, और आर्य-भाषा इनके द्वारा गृहीत होने के समय इसकी उच्चारण-शैली द्राविड़-भाषा के मुताबिक बदल गई। दूसरा कारण यह हो सकता है कि, पश्चिम-पंजाब की आर्य-बोली मे प्राकृत युग से ऐसी कुछ आभ्यंतर प्रवणता या भीतरी झुकावट आ गई थी, जो मारवाड़ गुजरात में लाई जाने के बाद भी काम कर चली—और यों यहां भी पश्चिम-पंजाबी से मिलती-जुलती विशेषताएं प्रकट हुई।

स्वर्गवासी Tessitori तेस्सितोरी ने दिखलाया है, कैसे गुजरात और पश्चिम-राजस्थान या मारवाड़ की भाषा ईस्वी १६०० तक एक ही थी। गुजराती और मारवाड़ी के ध्वनि-तत्त्व तथा रूप-तत्त्व के अच्छे ऐतिहासिक और तुलनात्मक अवलोकन करके तेस्सितोरी ने इसे स्थापित किया है। गुजराती और मारवाड़ी एक मां की दो बेटियाँ हैं, इसका और कुछ प्रमाण है। गुजराती में 'ग्यारह' से 'अठारह' तक संख्यावाचक शब्दों में अन्त्य अक्षर 'ह' नहीं मिलता है—जैसे 'अग्यार्, बार्, तेर्, चौद्, पन्दर्, सोळ्, सतर्, अढार्'। गुजरात की बोलचाल की प्राकृत में यदि अन्त्य अक्षर 'ह' इन शब्दों में शुरू ही से रहता, तो आधुनिक गुजराती में उपान्त अक्षर 'र'-की स्वर-ध्वनि 'अ'-का लोप नहीं होता—गुजराती उच्चारण में तब ये शब्द, 'अग्यार, बार, तेर, चौद, पन्दर, सोळ, सतर, अढार,' ऐसे अ-कारान्त सुनाई देते। 'षोडश' से प्राकृत

'सोळह', यह स्वरांत ह-युक्त रूप यदि चालू बोली में, मौखिक बोली में सुनाई देता, तो आधुनिक गुजराती में अन्त के दो अक्षरों का ('ह'-के अ-कार-का तथा 'ळ'-के अ-कार का)-लोप नहीं होता। ऐसा ही नव्य भारतीय-आर्य भाषाओं के ध्वनि-परिवर्तन का एक साधारण सूत्र है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुजराती की मूल प्राकृत ही में इन शब्दों के अन्त्य अ-कार का और उसके बादमें उद्वृत्त या अवशिष्ट अन्त्य हलन्त ह-कार का (अथवा स-कार का) लोप सहज हुआ; जैसे 'चतुर्दश' से 'चउद्दस', फिर 'चउद्दह'; उससे प्राकृत युग ही में अन्त्य अ-कार के लोप के कारण, 'चउद्दस्' या 'चउद्दह्', फिर उससे 'चउद्द' (अपभ्रंश में), जिससे मध्य-युग की भारतीय आर्य-भाषा से नव्य-भारतीय आर्य-भाषा के विकास के सूत्रों के अनुसार बना 'चउद्, चौद्'। 'ह' पूरी तौर से अ-कारान्त यदि रह जाता, तो आधुनिक उच्चारण 'चौदह' ही होता, हरगिज 'चौद्' नहीं। गुजरात-प्रान्त में जो शक-जातीय क्षत्रपों की मुद्राएं मिली हैं, ईस्वी द्वितीय शती की, उनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखित प्राकृत में, तथा उस प्राकृत लेख का ग्रीक लिपि में प्रतिवर्णी-करण के द्वारा, राजा का नाम और परिचय दिया गया है। भारतीय ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में वह ऐसे लिखा है:—'रञो क्षहरातस नहपानस'; और ग्रीक लिपि में इस लेख के भारतीय शब्दों के जो प्रतिवर्ण दिये गये हैं, वे रोमन वर्णों के सहारे यों लिखे जा सकते हैं—Rannio Xaharatas Nahapanas। इस ग्रीक प्रतिवर्णी-करण से साबित होता है कि, गुजरात प्रान्त के लोग लिखते थे 'रञो', और पढ़ते थे Rannio अर्थात 'रञ्ञो', जो कि और प्रमाणों से मानने वाली बात है; लिखते थे 'क्षहरातस' और 'नहपानस', पर पढ़ते थे—'क्षहरातस्स' और 'नहपानस्स' नहीं, परन्तु Xaharatas अर्थात् 'क्षहरातस्' और Nahapanas अर्थात् 'नहपानस्'। षष्ठी विभक्ति के 'स्य >स्स' का यों हलन्त 'स्'-भाव आ गया था। आखिर, अन्त्य हलन्त 'स्' गिर गया, भाषा में षष्ठी विभक्ति का पद, प्रथमा-विभक्ति-युक्त पद का सा

या प्रातिपदिक रूप का सा हो गया; फिर, इसी कारण षष्ठी विभक्ति-वाचक किसी नये प्रत्यय की आवश्यकता हुई, 'कर्णकः > कण्णओ, कण्णउ > नो, तन, > तण, कार्यकः > केरओ, केरउ, केरो' आदि नये-नये परसर्ग प्रथम बन गये। जैसे 'नहपानस्य > नहपानस > नहपानस्', उसी तरह 'द्वादश > बाडस, बारस > बारस् > बार' निकला, आखिर आधुनिक गुजराती का 'बार्'। प्राचीन मारवाड़ी में इन संख्या वाचक शब्दों के प्रतिरूप यों हैं—'अग्यार ('अग्यारह' भी मिला है), बार, तेर, चउद (साथ ही साथ 'चउदह' भी मिला है), पनर (तथा 'पनरह'), सोल=सोळ, सतर (तथा 'सतरह'), अठार (अठारह), नवर (<नव-दश)'। चालू मारवाड़ीमें हिन्दी के प्रभाव के कारण अन्त्य हलन्त 'र्' के स्थान 'रॅ', 'रह' - वाले रूप आजकल सुनाई देते हैं; पर इस उच्चारण-विषयक छोटी सी बात महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जब इसके द्वारा भाषा के इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। इन संख्या-वाचक शब्दों के लिए अपभ्रंश में पूरे ह-कारान्त रूप ही मिलते हैं—जैसे 'एगारह, बारह, तेरह, चउद्दह, पन्नरह, सोळह, सत्तरह, अट्ठारह'; पर ये सब साहित्यिक रूप हैं, ह-कारान्त ये सब रूप फिर पिंगल या मध्यदेश की बोली ब्रजभाषा आदि के प्रभाव के कारण मारवाड़ी में आ गये हैं। ('बार'—'बार > बारा, 'बारै=ब'रा, ब'रै'—इन दोनों में 'ब'-कार के उच्चारण में क्या कुछ पार्थक्य अनुभूत होता है ?)

और एक गम्भीर विषय में पश्चिम-पंजाब और सिन्ध की बोलियों से गुजराती-मारवाड़ी का साम्य है कि नहीं, इस विषय पर खोज होनी चाहिये। जहाँ तक हमें ज्ञात है, यह साम्य है। नव्य या आधुनिक-भारतीय-आर्य भाषाओं की एक खास आदत या निराली रीति है, जिसे "प्रतिध्वनि शब्द" कहा गया है; यह रीति आदि भारतीय-आर्य भाषा में (वैदिक और संस्कृत में) नहीं मिलती है, पर नव्य भारतीय-आर्य की नाँई नव्य ईरानी (फारसी) में यह उपलब्ध होती है। द्राविड़ भाषाओं की भी यह एक खास रीति है, और यह एक प्रकार से संदेह-रहित है

कि ईरान और भारत में जो द्राविड़ भाषा विद्यमान थी, और जिसके स्थान पर आर्य-भाषा ने अपना राज्य जमा लिया था, यह प्रतिध्वनि-शब्द-वाली रीति आर्य-भाषा पर उसी के प्रभाव का फल है। 'इत्यादि' के अर्थ में किसी शब्द के पीछे उसकी ध्वनि का अनुकरणात्मक एक बनावटी शब्द लगा दिया जाता है, जिस बनावटी शब्द का स्वतन्त्र अवस्थान भाषा में नहीं होता। जैसे हिन्दी में 'घोड़ा-वोड़ा, पैसा-वैसा, जल-वल, पानी-वानी, राजा-वाजा, आदमी-वादमी, हाथ-वाथ, जंगल-वंगल, जलेबी-वलेबी,' इत्यादि। 'वोड़ा, वैसा, वल, वानी' प्रभृति "प्रतिध्वनि शब्द" हैं, और इनका काम है, मूल शब्द से संयोग रखने वाले अनुरूप दूसरी वस्तुओं की ओर कुछ अस्पष्ट भाव से श्रोता की दृष्टि को आकर्षित करना। हिन्दी में ऐसे प्रतिध्वनि शब्द, मूल शब्द के आद्य अक्षर के व्यञ्जन-ध्वनि के स्थान पर 'व' बिठा देकर बनते हैं। 'व'-के अतिरिक्त और कुछ व्यञ्जन ध्वनि ऐसे व्यवहृत होती हैं, पर और व्यंजनों की कुछ खास द्योतना रहती है। जैसे 'फ' कभी-कभी आता है; इस से कुछ असंतोष या घृणा का भाव आ जाता है; जैसे 'काम-फाम', 'काठ-फाठ' इत्यादि। इन प्रतिध्वनि शब्दों के अतिरिक्त और कुछ मिलित शब्द नव्य भारतीय-आर्य भाषाओं में पाये जाते हैं, जिनमें "अनुकार शब्द" (पूछ-ताछ), "विकार शब्द" (गोभी-गाभी), "अनुचर शब्द" (कपड़ा-लत्ता, दिन-दहाड़ा), "सहचर या अनुवाद शब्द" (साग-सब्जी, पहाड़-पर्वत, नदी-नाला, झंडा-निशान), अथवा "प्रतिचर शब्द" (दिन-रात, हिन्दू-मुसलमान, राजा-वजीर) आते हैं। ऐसे प्रतिध्वनि शब्द द्राविड़ भाषाओं में मिलते हैं; तेलुगू, कानड़ी, तमिल, मालयालम् के प्रतिध्वनि शब्दों में सर्वत्र आद्य अक्षर में 'कि' या 'गि' अक्षर आ जाता है; जैसे तमिल शब्द—'मनिदन्-गिनिदन्'='आदमी-वादमी', 'कुदिरै-गिदिरै'='घोड़ा-वोड़ा'। नव्य आर्य भाषाओं में किन्तु 'कि' या 'गि' यों नहीं आता: इनमें और कई ध्वनियाँ मिलती हैं। जैसे बंगला में 'ट' आता है—'जल-टल, राजा-टाजा, हात-टात' इत्यादि। मैथिली

में 'त' आता है—'पानि-तानि, घोरा-तोरा, राजा-ताजा'। हिन्दी की नाईं 'व' इन में नहीं होता। पर इधर गुजराती में 'ब' होता है—जैसे—'घोडो-बोडो, राजा-बाजा, सेठ-बेठ' इत्यादि; और मराठी में 'बि' आता है—जैसे 'घोडा-बिड़ा, राजा-बिज', जज्ञ-बिज्ञ'। क्यों आर्य-भाषाओं की एक में 'व' आया, एक में 'ट', एक में 'त', औरों में 'ब' या 'बि', इसका पता अबतक नहीं चला। नव्य आर्य-भाषा के इतिहास में ये प्रतिध्वनि शब्द और इनका व्यञ्जन ध्वनि बड़ी महत्वपूर्ण है। एक कौतूहल-पूर्ण बात सुनिये। बंगाल प्रान्त के अधिकांश लोगों तथा सिंहल के अनेक पंडितों का भी ऐसा विश्वास है कि विजयसिंह, जिन्होंने ईसा के पूर्व छठी शती में उत्तर-भारत से लंका-द्वीप जाकर उसे जय किया था और वहां आर्य उपनिवेश स्थापित किया था, बंगाल के एक राजपुत्र थे। पर मेरे विचार में विजयसिंह गुजरात प्रान्त ही के थे; उनकी पितृ-भूमि पाली ग्रन्थों में उक्त 'लाळ' देश सचमुच बंगाल का 'राढ़' नहीं था, बल्कि गुजरात या 'लाट' (लाड़, लाड=लाळ) देश, जिसकी राजधानी उस समय थी 'सिंहपुर' अथवा 'सीहपुर' जो आजकल का 'सिहौर' है। विजयसिंह बंगाल के थे—इसके पक्ष में जो युक्तियां हैं, उनसे, वह गुजरात ही के थे, इस विचार के पक्ष की ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा भाषा-तात्त्विक युक्तियां, मेरी राय में, प्रबलतर हैं; और भाषातात्त्विक युक्तियों में सबसे लाजवाब युक्ति यह है कि, सिंहली भाषा, जो कि भारतीय आर्य-भाषा में से है, उसमें जो प्रतिध्वनि शब्द मिलते हैं उनमें 'ब' ही आता है, बंगला का 'ट' हरगिज नहीं; जैसे—सिंहली 'अत्-बत'= 'हाथ-बाथ', 'दत बत'='दांत-बात', 'अश्वय-बश्वय'='अश्व-बश्व', 'करत्त-बरत्त'='गाड़ी-बाड़ी', 'पेट्टी-बेट्टी'= 'पेटी-बेटी', 'कैति-बैति'= 'छुरी बुरी', 'वतुर-बतुर'='पानी-बानी' इत्यादि। गुजरात और महाराष्ट्र प्रान्तों की भाषा से सिंहल की भाषा का संयोग प्रमाणित करने के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण भाषातात्त्विक दलील है।

जहां तक मैंने खोज की है, ऐसा मालूम होता है कि गुजराती और

सिंधी में जैसा, मारवाड़ी के प्रतिध्वनि शब्दों में आजकल हिन्दी के प्रभाव के कारण यद्यपि 'व'-का बोलबाला है, तथापि ठेठ या पुरानी चाल की मारवाड़ी में 'ब' ही साधारणतया प्रयुक्त होता है। एक समय सिंध, गुजरात और मारवाड़ सम्मिलित रूप से एक ही राष्ट्र था; 'गुर्जरत्रा' याने 'गूजर या गूर्जर लोगों का देश', ये प्राचीन नाम खीस्तीय नवीं शती में मारवाड़ ही का एक नाम था; और 'लाट' देश, जो ईसा के समय से काठियावाड़ ही का एक नाम रहा है, (आज से लगभग अट्ठारह सौ वर्ष पूर्व ग्रीक लोगों ने गुजरात प्रान्त में आकर काठियावाड़ का 'लाडिका' अर्थात् 'लाटिका' अथवा 'लाट' नाम ही सुना था, और इस नाम को इन्होंने अपनी भाषा में Lariké या Larika रूप में लिखा था), किसी-न-किसी समय पर और व्यापक था—दक्षिण सिंध प्रांत इसी का अन्तर्गत अथवा इसी से संयुक्त था; अब तक दक्षिण-सिंध का नाम है 'लाड़', जो 'लाट' शब्द ही का एक अर्वाचीन रूप है। (सिंध प्रदेश को मामूली तौर पर तीन अंशों में विभक्त किया गया है—'सिरैकी' अर्थात् 'सिर' अथवा मस्तक याने उत्तर का अंश, 'विचोली' अर्थात् 'विच' (बीच) अर्थात् मध्यभाग, और 'लाड़' अर्थात् दक्षिण भाग)। सिंध की भाषा में अपभ्रंश के कर्तृकारक का रूप अभी तक संरक्षित हुआ है, राजस्थानी गुजराती में जैसा; पर इस विषय में मध्यदेश की ब्रज-भाषा, कनौजी, बुन्देली बोलियों से साम्य रहते हुए भी, खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी), बांगरू तथा पंजाबी से और मराठी से राजस्थानी-गुजराती का मेल नहीं है।

प्रतिध्वनि शब्दों के 'ब' ध्वनि, जो लगातार पश्चिम-पंजाब, सिंध, मारवाड़, गुजरात, महाराष्ट्र में मिलता है, उसके बारे में यह लक्षणीय है कि, ईरान में इस कदर प्रतिध्वनि शब्दों में 'प' ज़्यादातर आता है, कभी-कभी 'म': जैसे 'लूती-पूती'='चोर-बदमाश', 'कफ़श्-पफ़श्'='जूता-वूता', 'ख़िर्त्-पिर्त्'='छोटी से चीज़ें', 'दुज़्द्-पुज़्द्'='चोर-डाकू', 'शुतुर-मुतुर'='ऊँट-वूँट', 'क़ातिर-मातिर'='खच्चर-वच्चर' इत्यादि। 'प,

ब, व, म' एक ही ओष्ठ्य पर्याय की ध्वनियां हैं। ऐसा संभव है कि, ओष्ठ्य-ध्वनि (स्पृष्ट 'प' या 'ब') पूर्व ईरान तथा उत्तर-पश्चिम और पश्चिम भारतवर्ष (पंजाब, सिंध, राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र) की द्राविड़ भाषा में प्रतिध्वनि शब्दों के लिए चालू थी, जिससे अपने स्थान पर स्थापित उत्तर-पश्चिम भारत की कुछ आर्य-भाषाओं में यह ओष्ठ्य-ध्वनि 'ब' या 'प' के रूप में आ गई, और ईरान की आर्य-भाषा फारसी में 'प' के रूप में; और भारत के मध्य-देश में यह स्पृष्ट ओष्ठ-ध्वनि, 'प' या 'ब' उष्म अथवा अर्धस्वर 'व' हो गई।

ऐसी छोटी-छोटी फुटकर बातें, ऊपर जिन पर कुछ विवेचन किये गये हैं, इनसे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि, मारवाड़-गुजरात की मौलिक या प्राथमिक आर्य-बोली, जिसका प्राचीनतम निदर्शन अशोक की गिर-नार-लिपि में हमें मिलता है, मध्यदेश (शूरसेन अथवा अन्तर्वेद) की भाषा से नहीं निकली थी; पश्चिम-पंजाब तथा सिंध-प्रांत में जो आर्य बोलियां स्थापित हुई थीं, उनसे यह ज्यादा सम्पर्कित थी। राजनैतिक कारणों से, इन प्रान्तों से मारवाड़ और गुजरात का घनिष्ठ सम्बन्ध था। शक प्रभृति ईरानी लोग भारतवर्ष में ज़्यादातर पंजाब और सिंध-गुजरात में बसे थे। ये भी ज़्यादातर उत्तर-पश्चिम की भारतीय बोली के बोलने वाले बन गये थे। साधारणतया इस वक्त ऐतिहासिकों का विचार है कि गूर्जर-लोग, जिनसे अधिक सम्बन्ध के कारण किसी समय राजपूताने के मारवाड़-प्रांत का और सौराष्ट्र-लाट का 'गूर्जरत्रा' या 'गुजरात' (अर्थात् गूजरों का देश) नाम मिला था, और पंजाब के 'गुजरात' तथा 'गुजराण-वाला' नगरों के भी नाम बने थे, मध्य-एशिया से ईस्वी छठी शती में भारत में आये थे। इनका विचार ऐसा भी है कि गूर्जर-लोग हूणों से सम्पर्कित थे, और हूणों की नाईं गूर्जर-लोग तुर्की-भाषी थे। पर गूर्जरों के उत्तर पुरुष अब के गूजरों की शक्ल, तुर्कों की सी मंगोल ढंग की नहीं है—यह तथाकथित 'आर्य' ढंग की ही है। विद्वद्वर श्री जयचन्द्रजी विद्यालङ्कार की राय मेरे विचार में सर्वथा माननीय है— गूर्जर या गूजर

लोग भारतवर्ष ही की पशु अर्थात् गाय और भैंसों की पालक एक विशिष्ट जाति के मनुष्य थे, आभीरों के साथ इनका गुजरात-राजस्थान तथा सिंध में वासस्थान था। वास्तव में, ये बाहर से आये हुए युद्ध-प्रकृतिक लोग नहीं थे, और न भारत के क्षत्रिय, प्रत्युत गौ-पालक तथा महिष-पालक थे। राजपूताने और गुजरात में इनका संख्याधिक्य था, इस कारण से, अथवा किसी समय इनकी राजनैतिक प्रतिष्ठा के कारण, इनके नाम से देश का 'गुर्जरत्रा' या गुजरात नाम गृहीत हो गया। उत्तर राजस्थान से (जहां की बोली मध्य-देश की बोली से ज़्यादा मिलती-जुलती है) गूजर-लोग बहुत-से पंजाब और काश्मीर में जाकर बसे, और इनकी बोली (जिसका मेल मेवाटी से ज़्यादा है) उन स्थानों में प्रतिष्ठित हुई। यों राजस्थान की एक बोली पंजाब और काश्मीर में इस गो-पालक जाति में मिलती है।

पर पश्चिम-राजस्थान की बोली मारवाड़ी-गुजराती, मध्यदेश की भाषा से स्वतन्त्र होने पर भी, उस पर मध्य-देशीय भाषा का गहरा प्रभाव पड़ा है। वास्तव में राजस्थान–मालवा (खास करके पश्चिम–राजस्थान)—दो प्रान्तिक आर्य भाषा और आर्य संस्कृतियों का मिलन-क्षेत्र बना। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रियर्सन के भाषा-विवेचन के अनुसार 'राजस्थानी' इस विरूद के भीतर मालवी, निमाड़ी और मेवाटी-अहीरवाटी को लाना सयुक्तिक नहीं रहेगा। मध्यदेश की भाषा से स्वतन्त्र 'राजस्थानी' में, सिर्फ मारवाड़ी और ढूँढारी (जयपुरी) और उससे सम्पर्कित बोलियों को लेना पड़ेगा; इनके साथ गुजराती को भी लेना होगा। तेस्सितोरि की राय यह है कि ढूँढारी (जयपुरी) अपनी जड़ से मध्यदेश की भाषा से ही सम्पर्कित है, पिछले ज़माने में पश्चिमी राजस्थानी के प्रभाव के कारण इसमें बहुत से परिवर्तन आगये, और ढूँढारी का मध्यदेश की भाषा से कुछ स्वतन्त्र-भाव और साथ ही साथ पश्चिमी-राजस्थानी से कुछ ऐक्य आ गये। आजकल की 'राजस्थानी' बोलियाँ, मारवाड़ी और ढूँढारी, मध्यदेश की भाषा (व्रज, खड़ी बोली) द्वारा

विशेष रूप से प्रभावान्वित हुई है; मध्यदेश से कम-से-कम डेढ़ हज़ार वर्षों के घनिष्ठ संयोग का फल यह है। राजपूत राजाओं के कई प्रख्यात् वंश के लोग गांगेय उपत्यका से राजस्थान की भूमि पर आ बसे थे; उत्तर से आये हुए इन क्षत्रिय तथा उनके साथ आने वाले ब्राह्मणादि जातियों के मनुष्यों के द्वारा राजस्थान की मौलिक या स्वतन्त्र बोली पर, मध्यदेश—गंगा-यमुना के देश—की भाषा का प्रभाव पड़ता आया है। मध्यदेश के सांनिध्य के कारण, पूर्वी-राजस्थानी (जयपुरी इत्यादि) पर मध्यदेश का असर इतना ही पड़ा कि पूर्वी-राजस्थानी और पश्चिमी-राजस्थानी उन दोनों में काफी पार्थक्य हो गया है। उधर मालवे की बोली के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि दर-असल यह मध्यदेश की भाषा ही की एक शाखा है; पर इस पर इसकी पश्चिम की पड़ोसी मारवाड़ी-राजस्थानी का काफी प्रभाव पड़ा, जिसके कारण इसमें मध्यदेश की भाषा से लक्षणीय कुछ राजस्थानीपन आ गया है। ईसा के पूर्व की शतियों में, बुद्धदेव के समय से, मध्यदेश से जो भाषा और सभ्यता की धारा दक्षिण की ओर चली थी, उसने जाकर जब मालव-देश को जय कर लिया था, तब मानो कि वहाँ आर्य-भाषा की और कोई धारा नहीं पहुँची थी; पर पश्चिम-राजपुताने में दो धाराओं का संगम हुआ—जिनमें एक धारा ने उदीच्य से (अर्थात् सिंध प्रदेश और पंजाब की राह से), पहिले ही आकर अपना आसन जमा लिया था, और दूसरी धारा, जो अन्त में प्रबलतर बनी, मध्यदेश से आई थी। उदीच्य की धारा के साथ ही साथ, नहीं तो उससे कुछ पीछे इस दूसरी (मध्यदेश की) धारा का भी आना संभवनीय हो सकता है।

इन दोनों धाराओं की क्रिया और प्रतिक्रिया से जटिल पंथ का आश्रय लेकर, विगत सहस्र वर्षों से अधिक काल हुए राजस्थान का वाङ्मय इतिहास, इसका भाषागत तथा साहित्यिक जीवन, प्रवाहित होकर चला आया है। इन दो धाराओं के घात-प्रतिघात के कारण, मारवाड़ी के सिवाय कोई एक सर्वजन-मान्य राजस्थानी साहित्यिक

शैली नहीं बनी। जनता में प्रचलित छोटी-छोटी अपभ्रंश कविताओं में इस भाषा-संकट या भाषागत मिश्रण के प्रचुर उदाहरण मिलेंगे। पर, उस ज़माने में लोक-भाषा में पार्थक्य इतना नहीं था, जैसा कि आजकल। समग्र उत्तर-भारत की भाषागत एकता, विगत समय में विनष्ट या संकुचित नहीं हुई। जब अपभ्रंश से प्राप्त साहित्यिक उत्तराधिकार को लेकर, मध्यदेश के प्रभाव से, "पिंगल" की काव्य-शैली राजस्थान के भाट और चारणों द्वारा स्वीकृत हो गई, तब मध्यदेश की भाषा पर, स्वतन्त्र राजस्थानी भाषा की तरफ से प्रतिक्रिया आई। पुरानी मारवाड़ी भाषा, जो कि मारवाड़ी और गुजराती दोनों ही की माँ थी, उसमें साहित्य-सर्जना होने लगी; फिर मध्य-युग की मारवाड़ी के आधार पर "पिंगल" की प्रतिस्पर्धी साहित्यिक भाषा "डिंगल" भी प्रकट हुई। राजस्थान के भाषा-मिश्रण की जटिलताओं के विश्लेषण, राजस्थानी से और समस्त नव्य भारतीय-आर्य भाषाओं के सम्बन्ध का निर्धारण, यही राजस्थानी भाषा-तत्त्व की सबसे कठिन समस्या है। तुलनामूलक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष सूक्ष्मता के साथ यह काम करना होगा। तेस्सितोरि ऐसे विद्वानों का यश चिर-शुभ्र रहे ;–राजस्थानी का ऐतिहासिक ध्वनितत्त्व, इसका रूप-तत्त्व, और इसकी शब्द-निरुक्ति—इन विषयों की मोटी-मोटी बातों परकुछसार्थक विचार इनके द्वारा ही हो चुका।

अब राजस्थान के भाषागत तथा साहित्यिक जीवन में दो धाराओं की यह पुरानी समस्या फिर नये रूप में जागृत हो रही है, और इस नये रूप का 'विकेन्द्रीकरण' का नाम दिया गया है। इस समस्या पर आगे के भाषण में कुछ विवेचन किया जायगा।

राजस्थानी भाषा

३ सामयिक

भारत में ऐसे बहुत प्रान्त हैं, जहाँ स्थानीय भाषा के साथ ही साथ और कोई भाषा भी चालू है, और जनता का भाषा-विषयक बोध जहाँ ऐसा है कि वह अपनी प्रान्तिक बोली या घरेलू भाषा अच्छी तरह से बोलती हुई भी, उस पर ज़्यादा अभिमान नहीं रखती; और अपने प्रान्त के बहिर्भत बाहिर की इस भाषा को अपनाने, इसे पढ़ने-लिखने और बाहर के काम-काज के लिये इसे व्यवहार में लाने के लिये जनता प्रयत्न करती है। राजस्थान ऐसा एक प्रान्त है। राजस्थान की बोलियों में केवल मारवाड़ी में एक उच्च कोटि का साहित्य है, जो अधिकतया अमुद्रित और अप्रकाशित है; और ढूँढारी अर्थात् जयपुरी आदि में जो साहित्य है, वह मारवाड़ी का सा इतना विस्तृत नहीं है। राजपूताने में तथा मालवे में शुरू ही से मध्यदेश की भाषा अधिष्ठित हुई थी, और राजपूताना-मालवे के लोगों के चित्त पर इसका साम्राज्य पहिले ही से सुप्रतिष्ठित है। तुर्कों के द्वारा उत्तर-भारत के विजय के समय, चालू घरेलू बोली को कहीं भी साहित्यिक मर्यादा नहीं मिली थी—केवल सुदूर पूर्व के बिहार और बंगाल-प्रान्त के सिवाय; बंगाल में ईस्वी १५०० के पूर्व ही से, लगभग ईस्वी ६०० से, देश-भाषा पुरानी बंगाली में (विशेषतः बौद्ध सिद्धाचार्यों के प्रयत्न से) धार्मिक गीतात्मक एक छोटा-सा साहित्य, जो हिन्दी के कबीर आदि संतों के पदों की याद दिलाता है, बन गया था। मैथिली भाषा के साहित्य की नींव भी ईस्वी १२०० सन् के

पहिले ही से डाली गई थी, ऐसा अनुमान होता है। शुद्ध मराठी की एक विख्यात पुस्तक, ज्ञानोबा की गीतानुवाद तथा गीता-भाष्य "श्री ज्ञानेश्वरी", ईस्वी तेरहवीं शती के अन्त में लिखी गई थी; इससे प्रतीत होता है कि मराठी में १२०० के कुछ बाद ही में साहित्य-रचना का आरम्भ हुआ था। ईस्वी सन् ११५० के पहिले ही दामोदर पण्डित ने संस्कृत सिखाने के लिये अपनी "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" पुस्तक में पुरानी कोसली भाषा का प्रयोग किया था, उस पुस्तक में उद्धृत प्रवाद तथा पद्यांश से विदित होता है कि पुरानी कोसली मे कुछ लोक-साहित्य बन गया था; पर इसका और निदर्शन नहीं मिलता। पर न पंजाब में, न व्रज-मण्डल में, न मारवाड़ में, न सिंध में, न गुजरात में, उस समय उन प्रान्तों की निजी बोलियों का साहित्यिक प्रयोग दिखाई देता। एक प्रकार की साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का सार्वजनीन व्यवहार था, जिसने, समग्र पंजाब, राजस्थान, गुजरात, संभवतः सिंध भी, और अन्तर्वेद, इन प्रान्तों की एकमात्र साहित्यिक भाषा के पद को प्राप्त किया था—देव-भाषा और पंडितों की भाषा संस्कृत के पीछे इस ही का स्थान था। यह अपभ्रंश भाषा को साधारणतया Western Apabhramsa "पश्चिमी अपभ्रंश" या Sauraseni Apabhramsa "शौरसेनी अपभ्रंश", यह नाम दिया जाता है। यह साहित्यिक भाषा शूरसेन या मध्यदेश की चालू बोली के आधार पर मुख्यतया बनी थी। पर इस पर इधर राजस्थान, गुजरात तथा पंजाब की और उधर कोशल की अपभ्रंश या अन्तिम युग की प्राकृत का प्रभाव भी पड़ा था। यह शौरसेनी अपभ्रंश मानों कि उस ज़माने की (अर्थात् ईस्वी सन् ८०० से १३०० तक की) हिन्दी ही थी, जिसमें कबीर की भाषा में जैसा, वैसा शूरसेन की भाषा से दिल्ली की भाषा का (और कभी-कभी कोसल और काशी की भाषा का, तथा इसके अतिरिक्त राजपूताना और गुजरात की भाषा का भी) पर्याप्त

मिश्रण हुआ करता था। यदि किसी देश में प्राचीन काल से साहित्यिक परंपरा हो, तो उसमें प्रायः साहित्यिक भाषा कुछ न कुछ प्राचीन-पंथी होती ही है। हमारे भारतवर्ष में अधिकतया ऐसा ही हम देख पाते हैं। युग-युग से साहित्यिक भाषा थोड़ी बहुत पुराने ढंग की, थोड़ी बहुत कृत्रिम होती थी। कई पीढ़ियों के पूर्वजों की प्रतिष्ठित भाषा को छोड़ कर बिलकुल नई तौर की कथित भाषा में साहित्य रचना करना, भाषागत विप्लव की सूचना-सी जँचती थी। इसलिए, समग्र मध्यदेश, काशी और कोसल के पूर्वी प्रांत, उत्तर-पश्चिम भारत अर्थात् पंजाब तथा गुजरात और राजपूताना, इस विशाल भू-खण्ड में, जब एक बार एक प्रान्तिक बोली शौरसेनी की साहित्यिक मर्यादा मिल गई, ईस्वी संवत् की आठवीं या नवीं शती के किसी समय में, तब से इस शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के लिए एक गौरवमय इतिहास (जो कई चार-पाँच शतियों का था) आरम्भ हुआ। हर्षवर्धन की मृत्यु (ईस्वी ६४८) के बाद, आठवीं शती से, उत्तर भारत के राजपूत युग का आरम्भ हुआ। प्राचीन आर्य-द्राविड़-निषाद-किरात जगत् के सूर्य-वंशी तथा चन्द्र-वंशी क्षत्रिय राजघरानों के साथ कुछ नवीन राजघरानों का मिश्रण हुआ, जो अग्निकुल के क्षत्रिय राजपूत कहलाये। भारत के बाहर से आए हुए युद्ध-प्रकृतिक शक, गूर्जर आदि लोगों को इस फैली हुई नव्य क्षत्रिय जाति के भीतर स्थान मिल गया—वैसा मध्य-भारत के कुछ अनार्य या मिश्र आर्यानार्य जाति के राजघरानों को भी मिला; और उत्तर काल में नेपाल और पूर्व भारत के किरात या मोंगोल जाति, या मिश्रित हिन्दू और मोंगोल जाति के राजवंशों के लोगों को भी वैसी राजपूताई या क्षत्रियता मिली। अस्तु; प्राचीन और नवीन क्षत्रियों के मेल से जो प्रभावशाली, प्रतापी और दुर्धर्ष राजपूत नेतृजाति नवीन रीति से उत्तर-भारत में प्रतिष्ठित हुई, बड़े ही उत्साहपूर्वक, प्राचीन भारत के हिन्दू, खास कर के ब्राह्मण्य धर्म और संस्कृति की रक्षा और इनके परिवर्धन के लिये, वह जाति आत्म-

नियोजित हुईं, और भारतीय सभ्यता के इतिहास के एक नवीन युग का प्रकाश हुआ। आदिकाल से संस्कृत भाषा, जो इस सस्कृति का लोकोत्तर माध्यम बन कर चली आई थी, नितान्त प्राचीन होने के कारण वह संस्कृत, जनता की समझ के लिये उतनी सहज नहीं रही; उसकी कुछ चर्चा की अपेक्षा थी। शौरसेनो, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी आदि प्राकृतों का युग बीत गया—जनता के सामने, ये प्राकृत, archaic अर्थात् पुरानी और इसके कारण समझने में कुछ कठिन हो गई। उस समय, सरलता से समझ में आ सके वैसी भाषा (अर्थात् संस्कृत से परिचय जिसका नहीं हो ऐसी जनता के लिए सुबोध चालू भाषा) की आवश्यकता अनुभूत हुई। नये-नये राजपूत राजाओं की सभा में, अन्तर्वेद से लेकर राजपुताना गुजरात सिंध पंजाब तक जो विशाल प्रदेश इन राजाओं की शूरता तथा राज्य-परिचालन का क्षेत्र था, उसकी साधारण सहज-बोध्य भाषा के आधार पर यह नई भाषा "शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश" स्थापित हुई। यह संस्कृत तथा प्राकृतों की उत्तराधिकारिणी बनी, और भारतीय साहित्य-कला के लिये इसमें एक नई प्रकाश-भूमि मिली। जनता की कथित या मौखिक बोलियों में, द्राविड़ और निषाद इन अनार्य-भाषाओं के प्रभाव ने जो नया रूप ला दिया था, वह अब तक पूर्ण रूप से प्रकाशित होने नहीं पाया। साहित्य की राह न रहने के कारण इस परिवर्तन-शील भाषा-शैली का प्रवाह अवरुद्ध-सा था; अब अपभ्रंश में वह खोल दिया गया। राजपूत राजाओं की कृति के प्रकाश के लिये भाट और चारण लोग आये; यह अपभ्रंश भाषा उनके लिये पथ-प्रदर्शक हुई। मध्य-युग के उत्तर-भारत के संत और साधु लोगों की परम्परा जिन्होंने स्थापित कर दी थी, ऐसे राजपुताना, गुजरात और पंजाब के जैन आचार्य-लोग तथा पूर्व-भारत (बिहार और बंगाल) के बौद्ध सिद्धाचार्य-लोग, और बाद में समग्र उत्तर-भारत में फैले हुए शैव-योगी या नाथ-पंथ के आचार्य-लोग, बंगाल के सहजिया

पथ के साधक,—इन सबों के लिये, शौरसेनी अपभ्रंश, जनता के समक्ष अपने मतवाद और अपनी शिक्षा के प्रचार के वास्ते, एक अच्छा साधन बना। अपने चित्त में जो भावोदय होते थे, उनके प्रकाशन की ज़रूरत जनता में थी; जीवन की नाना अभिज्ञता से लब्ध सुख और दुःखों की बातों से पूरे इस अपभ्रंश के दोहे और अन्य कवित्तों में भारतीय गण-चित्त के लिये एक नई प्रकाश-भूमि, साहित्यिक अपभ्रंश भाषा के रूप में स्थापित हुई। राजपूत राजाओं के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव ने समग्र उत्तर भारत को छा लिया; इसलिये उनकी सभाओं की भाषा का भी विस्तार हुआ—सुदूर महाराष्ट्र में, बगाल में, नेपाल में। बंगाल से पंजाब, सिन्ध और महाराष्ट्र तक इस भाषा का राज्य हुआ; यह उस ज़माने की यथार्थ उत्तर-भारत की राष्ट्र-भाषा बनी। इसी भाषा को, प्राथमिक आक्रमण के युग के विदेशी तुर्क और ईरानी लोग, "ज़बान हिन्दी" और "ज़बान हिन्दवी" अर्थात् 'भारतीय भाषा' या 'हिन्दुओं की भाषा' कहते थे। बंगाल के कवि लोगों की उस समय की शुद्ध पुरानी बंगला में लिखित कविताएँ मिली हैं; और इसके अतिरिक्त, इनके लिखे हुए पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश के पद और दोहे भी मिले हैं; बंगाल के बंग-भाषी कवियों के द्वारा व्यवहृत इस शौरसेनी अपभ्रंश में कुछ कुछ बंगलापन आ गया था, यह तो स्वाभाविक ही था; पर इनकी यह भाषा अखिल उत्तर-भारतीय शौरसेनी अपभ्रंश ही थी। शौरसेनी अपभ्रंश उस समय के आर्य भारत के लिये एक संयोगसूत्र थी।

इस शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्य के इतिहास से, अर्थात इसमें लिखित ग्रन्थों के पूरे परिचय से, खीस्तीय सन् ८०० से १३०० की भारतीय मानसिक संस्कृति का एक नया दिग्दर्शन हमें मिलेगा। शौरसेनी अपभ्रंश साहित्य की विस्तृति आश्चर्यकर दीख पड़ती है। अपभ्रंश साहित्य के नाम से, कुछ वर्षों तक, हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में दिये हुए कुछ दोहे और अन्य कविताएं जो संख्या में

लगभग २०० हैं, कालिदास के "विक्रमोर्वशी" नाटक की कुछ कविताए और "प्राकृत-पैंगल" तथा और कुछ अन्य ग्रन्थों में उद्धृत किए हुए पदों के सिवा, और कुछ हमें उपलब्ध नहीं था। धीरे-धीरे अपभ्रंश साहित्य से हमारा परिचय इस साहित्य के ग्रन्थों के प्रकाशन के साथ ही साथ बढ़ने लगा। जैन भण्डारों में ये सब अपभ्रंश ग्रन्थ अभीतक सुरक्षित हैं। जर्मन विद्वान् स्वर्गवासी Hermann Jacobi हर्मान याकोबी ने दो अपभ्रंश महाकाव्य "भविसत्त कह" और "सनत्कुमार चरिउ" का सम्पादन कर जर्मनी से प्रकाशित किया था; फिर स्वर्गवासी गुणे और दालाल ने "भविसयत्त-कहा" निकाली; और बंगाल में नेपाल के नेवारी बौद्धों में संरक्षित बौद्ध सिद्धाचार्यों के शौरसेनी अपभ्रंश दोहे और पद, स्वर्गवासी महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने प्रकाशित किये। अध्यापक परशुराम लक्ष्मण वैद्य और हीरालाल जैन ने कुछ महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थों का प्रकाशन किया है—अध्यापक जैन ने अपभ्रंश साहित्य पर लक्षणीय प्रकाश डाला है।

इन सब विद्वत्तापूर्ण कामों से, भारत को भाषा और साहित्य में अपभ्रंश के स्थान पर हमें नई दृष्टि मिली है। ऐसी भाषा जब प्रचलित देश-भाषाओं से मिलती-जुलती थी, तब उनपर इसका प्रभाव पड़ना कुछ आश्चर्य नहीं। शौरसेनी अपभ्रंश से इधर पुरानी कोसली का (अर्थात् पुरानी पूर्वी-हिन्दी का) कुछ साम्य था; फिर पुरानी व्रजभाषा, और उससे सम्पृक्त कनौजी और बुन्देली, शौरसेनी अपभ्रंश ही से निकली थी; ईस्वी १००० की शौरसेनी अपभ्रंश की ईस्वी १२०० की परिणति व्रजभाषा कनौजी और बुन्देली थी। मालवी तथा पूर्वी राजस्थानी, शौरसेनी अपभ्रंश से भी घनिष्ट रूप से सम्बद्ध थी। शौरसेनी अपभ्रंश का गहरा प्रभाव पश्चिमी-राजस्थानी (मारवाड़ी-गुजराती) पर पड़ा, उधर पंजाब की बोलियों पर भी पड़ा। पुरानी पश्चिमी-राजस्थानी साहित्य (अर्थात पुरानी मारवाड़ी-गुजराती साहित्य) का इतिहास ईस्वी-चौदहवीं शती के द्वितीयार्द्ध से शुरू हुआ;

मारवाड़ और गुजरात में प्रचलित मौखिक अपभ्रंश से (जो शौरसेनी से निकट सम्बद्ध होती हुई भी उससे स्वतन्त्र अपभ्रंश थी ऐसा अनुमित होता है—इसे हम "सौराष्ट्र अपभ्रंश" कह सकते हैं, उससे) पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का उद्भव, तेस्सीतोरी के मतानुसार, ईस्वी तेरहवीं शती में हुआ था। गुजरात और मारवाड़ के जैन आचार्य और पंडितों के द्वारा सौराष्ट्र अपभ्रंश से उद्भूत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में साहित्य-सर्जना होने लगी; पर साथ-ही-साथ शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा में पूर्ववत् काव्यादि साहित्यिक रचना की रीति अव्याहत रही। फिर, यह शौरसेनी अपभ्रन्श साहित्यिक भाषा, पूर्व से बदलती गई; इसका एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप, 'पिंगल' नाम से, राजस्थान और मालव के कवियों में पूर्णतया गृहीत हुई; पिंगल का एक साहित्य बन गया। 'पिंगल' को शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन व्रजभाषा, इन दोनों के बीच की भाषा कहा जा सकता है। व्रजभाषा प्रतिष्ठित हो जाने के बाद पिंगल के साथ-साथ व्रजभाषा ने भी राजस्थानी भाषाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। समग्र राजस्थान व्रजभाषा के लिये अपना क्षेत्र हो गया—व्रजभाषा के कुछ श्रेष्ठ कवि राजस्थानी-भाषी ही थे। फिर, राजपुताने के भाट और चारणों ने 'पिंगल' की अनुकारी एक नई कवि-भाषा मारवाड़ी के आधार पर बनाई, जो 'डींगल' या 'डिंगल' नाम से अब परिचित है। डिंगल काव्य ईस्वी पन्द्रहवीं शती से उपलब्ध है। ज़्यादातर इसकी शब्दावलि साहित्यिक थी, अर्थात् प्रचलित मौखिक मारवाड़ी की शब्दावलि से पृथक् होती थी। डिंगल के बहुत बड़े बड़े कवि और काव्य-ग्रंथ बने; डिंगल में, और साथ जनता में प्रचलित शुद्ध मारवाड़ी के दोहे आदि में राजस्थानी की (खास करके मारवाड़ी की) अपनी साहित्यक सार्थकता मिली।

पर डिंगल और शुद्ध मारवाड़ी साहित्य की पुष्ट धारा अब शुष्क होती जाती है। राजस्थानी बोलने वालों में हजारों मारवाड़ी दोहे आदि विशेष लोकप्रिय होते हुए भी, राजस्थानी की चर्चा आदि से आहिस्ते

आहिस्ते राजाओं के दरबारों के भाट और चारणों में सीमित रही। ज्यादातर दरबार के बाहरी काम-काज मुगल प्रभाव के कारण फारसी ही से हुआ करते थे; फिर, फारसी के बाद, गत ईस्वी शती के प्रारम्भ से जब उर्दू चालू हुई, तब आई उर्दू। देश-भाषा राजस्थानी का सम्मान अपने घर से ही उठ गया। पुराने ढंग पर कुछ कुछ काव्य दोहा और अन्य प्रकार की कविता लिखने के सिवाय, इसमें सत्साहित्य की सर्जना प्राय: बन्द हो गयी है। व्रजभाषा की समग्र उत्तर-भारत-व्यापी प्रतिष्ठा के कारण, व्रजभाषा की लोकप्रियता कभी नहीं घटी। उत्तर-भारत--संयुक्त प्रदेश तथा पंजाब के प्रभाव के कारण, आहिस्ते-आहिस्ते हिन्दी (और कहीं कहीं उर्दू) राजस्थान की शिक्षा की भाषा बन गई। राजस्थानी का गौरव अस्तमित सा मालूम हुआ। आन्तःप्रादेशिक भाषा हिन्दी के साथ ही, राजपुताने में प्राचीन काल से सुप्रतिष्ठित मध्यदेश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश, पिंगल और व्रजभाषा का अतीत इतिहास, और राजस्थान से मध्यदेश की भाषा का सदा का घनिष्ठ संयोग भी, विचारणीय है। इस तरह हिन्दी को अपने लिये स्थान बनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। समग्र भारत में वाणिज्य-व्यापार के लिये घूमते-फिरते हिन्दी से परिचित मारवाड़ी सेठ-साहुकारों से हिन्दी को पूरी सहायता मिली, जिससे राजस्थानी वंचित रही। मराठों के जमाने के बाद अंग्रेजों के अधिकार के प्रथम युग में रचित इस दोहे में देश-भाषा राजस्थानी की जो हालत कही गई है, वह बहुधा अब तक विद्यमान है, यद्यपि परिस्थिति धीरे-धीरे बदल रही है—

'हियर देअर' सोल आना, 'इधर उधर' बार।
'इकड़े तिकड़े' आठ आना, 'अठे बठे' चार॥

मेरे द्वितीय व्याख्यान में मैंने कहा था कि राजपुताना दो प्रकार की आर्य-बोलियों के संघात और सम्मेलन का क्षेत्र है–पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की सच्ची राजस्थानी, और पूरब और उत्तर–पूरब की मध्यदेशी (व्रजभाषा, हिन्दी आदि)। एक साधारण राजस्थानी साहित्यिक भाषा बन नहीं पाई, इस वास्ते तैयार साहित्यिक भाषा हिन्दी के लिये अपना

अब का स्थान बना लेना सहज हुआ है। प्रारम्भ में ही राजस्थान के हिन्दी लेखक (व्रज और खड़ी के) इतने हुए कि राजस्थान को "हिन्दी प्रान्त" मान लेना स्वाभाविक हो गया। श्री मोतीलाल मेनारिया की "राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा" से यह स्पष्ट दिखाई देता है।

राजस्थान के अधिवासियों का लिखा हुआ पुराना साहित्य इन बोलियों या भाषाओं में मिलता है--(१) शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा; (२) पिंगल; (३) व्रजभाषा; (४) पुरानी पश्चिमी-राजस्थानी; (५) कुछ-कुछ ढूंढ़ाड़ी या पूर्वी राजस्थानी (जैपुरी आदि); (६) डींगल; (७) शुद्ध मारवाड़ी; (८) पुरानी हिन्दी, जैसी कबीर आदि संतों के ग्रन्थों में मिलती है। व्रजभाषा से और पुरानी हिन्दी से राजस्थान के कवि लोगों को हिन्दी साहित्य के दरबार में सम्मान का आसन मिला है। शुद्ध राजस्थानी (मारवाड़ी) के कुछ कवि अपने भावों के महत्त्व के कारण, समग्र भारत के हो गये हैं, जैसे मीराबाई। मीरा की रचना समग्र उत्तरभारत में इतनी लोकप्रिय बनी कि, धीरे-धीरे इसकी शुद्ध राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा परिवर्तित होकर शुद्ध हिन्दी की ओर झुकी, अन्त में शुद्ध हिन्दी ही हो गई। राजस्थान के कवि हिन्दी ही के गिने गये। चन्दबरदाई तथा अन्य राजपूत वीर-गाथा के कवि हिन्दी के आदि कवियों में माने गये—यद्यपि चन्दबरदायी की भाषा (यदि इन्होंने कोई आदि 'पृथ्वीराज--रासौ' लिखा हो) शौरसेनी अपभ्रन्श ही थी, ऐसा अनुमान होता है—यह न हिन्दी थी, न राजस्थानी। इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि राजपूताने के लोगों ने तथा बाहर के विदेशी भाषा-तात्त्विकों ने एक ढीली काम-चलाऊ तौर पर मान लिया कि राजस्थान की बोलियां हिन्दी ही की dialects या उपभाषाएँ हैं। राजस्थान की खास बोलियों के साहित्य की स्वतन्त्रता की बात लोग भूल गये; इस विषय पर लोगों का ज्ञान तथा भावना अस्पष्ट होने लगी।

ऐसी अवस्था इस ईस्वी शती के प्रारम्भ तक थी। विगत ईस्वी शती के प्रारम्भ में बंगाल श्रीरामपुर के ख्रिस्तान मिनशरी लोगों ने

हिन्दी से राजस्थानी बोलियां स्वतन्त्र थीं इस दृष्टि से जब राजस्थान की कुछ बोलयों में बाइबिल के अनुवाद किये, तब उनकी इस चेष्टा की ओर किसी की नजर नहीं पड़ी। हिन्दी के व्याकरणकार Kellogg केलोग ने अपनी पुस्तक में राजस्थानी के कुछ प्रकारों के शब्द-रूप धातु-रूप आदि दिये, पर राजस्थानी हिन्दी ही की उपभाषा थी, ऐसा विचार उनका भी था। पर राजस्थानी बोलियों के व्याकरण तथा इतिहास-मूलक विचार सबसे पहिले स्व. सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी Linguistic Survey of India के राजस्थानी तथा भीली विषयक दो खंडों में सन् १६०७ और १६०८ में प्रकाशित किये। इससे राजस्थानी का अपना रूप, हिन्दी के साथ इसका सत्य सम्बन्ध, इन बातों पर, साधारण जिज्ञासु की अच्छी धारणा होने का सुयोग मिला। फिर उसके बाद Indian Antiquary पत्रिका के पत्रों में सन् १६१४-१६१६ ईस्वी में तोस्सितोरी ने, राजस्थानी और गुजराती के बीच जो स्पष्ट सम्पर्क है, उसे दिखाया, और राजस्थानी के इतिहास पर, हिन्दी के सामने राजस्थानी के अपने रूप पर, अपूर्व प्रकाश डाला। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने, और उसके बाद तोस्सितोरी ने राजस्थानी साहित्य तथा राजस्थानी पोथियों पर अनुसंधान किया, तेस्सितोरी ने कई तीन डिंगल काव्यों के संस्करण अपनी भूमिका और अंग्रेजी टीका के साथ कलकत्ते की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की तरफ से निकाले ('वंचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी, महेसदासौत री खिड़िया जगारी कही', अनुमानिक ईस्वी १६६० में लिखी हुई—सन् १६१७; 'वेलि क्रिसन-रुकमणीरी, राठौड़राज प्रिथीराजरी कही' ईस्वी सोलहवीं शती के अन्तिम पाद में लिखी; सन् १६१६; और 'छन्द राउ जइतसी-रउ, वीठू सूजइ-रउ कहियउ', अनुमानिक ईस्वी १५३५ की पुस्तक—सन् १६२०)।

इधर समग्र भारत में सांस्कृतिक जागृति की जो हवा चली, वह राजस्थान में भी आ पहुँची। अपने प्रान्त के प्राचीन इतिहास तथा सांस्कृतिक सम्पद्, साहित्य शिल्प-कला आदि की ओर, राजस्थान के

शिक्षित जनों की दृष्टि आकृष्ट हुई। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ऐसे विद्वान् का आविर्भाव हुआ, टॉड के राजस्थान के करीब सौ साल के बाद राजस्थान का अपना इतिहास इनके द्वारा लिखित हुआ। इनकी ऐतिहासिक खोज की मौलिकता तथा प्रामाणिकता से आधुनिक भारतीय विद्या का गौरव बहुत-सा बढ़ गया है। पुराने राजस्थानी साहित्य की भी चर्चा होने लगी। नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'ढोला मारू रा दूहा' ऐसा मूल्यवान् डिंगल ग्रंथ प्रकाशित हुआ। 'बारहट बालाबख्श् राजपूत चारण पुस्तक-माला' से कई ग्रन्थ, तथा पिळाणी से 'राजस्थानी ग्रंथ माला' निकलने लगी, अध्यापक रामसिंह, अध्यापक सूर्यकरण पारीक, अध्यापक नरोत्तमदास स्वामी, श्री मोतीलाल मेनारिया ऐसे राजस्थानी तथा हिन्दी और संस्कृत के सुपण्डितों के द्वारा पुरानी राजस्थानी पुस्तकों का सम्पादन आरम्भ हुआ, इनके द्वारा तथा और विद्वानों के द्वारा कई महत्त्वपूर्ण निबन्ध राजस्थानी भाषा और साहित्य पर प्रकाशित हुए।

पुरानी राजस्थानी के साहित्य का अनुशीलन इतना होते हुए भी, साहित्य में राजस्थानी का व्यवहार उतने उत्साह के साथ अब तक नहीं हुआ है। राजस्थानी में लिखित नवीन ग्रन्थ बहुत ही कम मिलते हैं। राजस्थानी पर इस समय पूर्ण अनुराग दिखाई देता है; विशेष रूप से मारवाड़ी-भाषीओं में, डिंगल साहित्य जिनकी अपनी मातृभाषा का साहित्य है, राजस्थानी के लिये इनमें अभिमान दिन पर दिन बढ़ता जाता है। पर इसमें साहित्य-सर्जना की ओर उतनी प्रबल आकांक्षा प्रकट नहीं हुई है। स्वर्गवासी शिवचंद्र भरतिया का सामाजिक नाटक 'केसर विलास' मैंने पढ़ा; जहाँ तक मुझे याद है, यह सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ था। उस समय, 'राजस्थानी आन्दोलन' नहीं था। पर भरतियाजी ने इस नाटक की राजस्थानी में लिखित भूमिका में राजस्थान में लोक-शिक्षा के विस्तार के लिए राजस्थानी भाषा में साहित्य-रचना की आवश्यकता पर अनुकूल आलोचना की थी।

हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि सुप्रतिष्ठित नव्य भारतीय-आर्य साहित्यिक भाषाओं के सामने, राजस्थानी भी अपनी साहित्यिक मर्यादा में खड़ी हो सके, ऐसी कामना और प्रार्थना भी प्रकाश की गई थी। राजस्थानी की साहित्यिक पुनर्जागृति के लिये यह भूमिका नितान्त महत्त्वपूर्ण है। भरतियाजी के नाटक में जो राजस्थानी भाषा व्यवहृत हुई थी, वह किसी प्रान्त-विशेष की राजस्थानी बोली नहीं थी, वह एक प्रकार की मिश्रित भाषा थी जिससे सब राजस्थानी बोलियाँ सम्मिलित हो सकती थीं। ऐसी भाषा और किसी ने किसी और ग्रन्थ में फिर व्यवहृत की या नहीं, यह मुझे विदित नहीं है। जो कुछ हो, नाटक और गद्य रचना द्वारा सम्भाव्य भविष्य की साहित्यिक राजस्थानी का आवाहन भरतियाजी ने ही पहले पहल किया था, ऐसा मालूम पड़ता है। शिवचन्द्र भरतिया का देहान्त ६२ वर्ष की अवस्था में वि० संवत् १९७२ (तदनुसार ई. सन् १९१५) में हुआ था। 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' में लिखा है कि आप राजस्थान वासी नहीं थे, हैदराबाद के रहने वाले थे। पर इनकी मातृभाषा किसी प्रकार की राजस्थानी बोली अवश्य ही थी। 'केसर विलास' नाटक में भरतियाजी ने विभिन्न पात्रों के मुंह में विभिन्न भाषा या बोली का व्यवहार किया—राजस्थानी के सिवा हिन्दी, उर्दू, गुजराती और मराठी भी इसमें आ गईं, इस मामले में इन्होंने विख्यात हिन्दी नाटक 'रणधीर-प्रेममोहिनी' तथा संस्कृत नाटकों का अनुकरण किया था।

पर मारवाड़ी या और किसी खास राजस्थानी में साहित्य-रचना धीमी चाल से अब तक चलती हुई भी, इस वक्त अपनी प्रान्तिक भाषा तथा उस भाषा को आश्रय कर विद्यमान संस्कृति के लिये देशात्मबोध-युक्त कुछ राजस्थानियों में राजस्थानी साहित्य की पुनर्जागृति के लिए लक्षणीय आग्रह नज़र आता है। सुदूर उत्तर-बंगाल के दिनाजपुर ऐसे कसबे में मारवाड़ी सेठ और व्यापारियों के

आग्रह से कई साल हुए एक राजस्थानी साहित्य सम्मेलन हो गया है। राजस्थानी (अर्थात मारवाड़ी) में नये ढंग का अच्छा साहित्य बनाने के लिए अनुवाद तथा मौलिक रचना द्वारा राजस्थानी भाषा को नई तौर पर सुसमृद्ध करने के लिए योजनाएं परि-कल्पित हुई हैं। अब इन चेष्टाओं का फल क्या होगा, यह विचारणीय है।

काल-स्रोत एक 'अघटन-घटन-घटीयसी' वस्तु है आज जो बात अनहोनी है, वह कल अवश्यंभावी बन जाती है। जो विचार या चर्चा पण्डितों की समिति या बैठक में आज सीमित है, कल उसी पर जनता नारा लगायगी। मित्र-गोष्ठी या विशेषज्ञों के मिलन-केन्द्र से कोई भी भावना अचानक खुली बाजार में आ पहुँचती है, विशेषज्ञों के उत्स-मुख से निकली हुई भाव-गंगा सारे-के-सारे देश को प्लावित कर देती है। कालिज में, परिषद में, सभा में, वाचनालय में अब राजस्थानी के पक्ष में जो सहानुभूति-पूर्ण विचार हो रहा है, उसे सुनते-सुनते राज-स्थान की जनता में भाषा-विषयक आदर्श भी बदल जा सकता है। फिर कुछ सुप्रतिष्ठित साहित्यिकों ने प्रांतिक बोलियों के लिये, "विकेन्द्री-करण" इस नाम से एक नया प्रस्ताव हिन्दी संसार के सामने उपस्थित किया है, कि हिन्दी प्रान्त में जितनी स्वतन्त्र बोलियां है, उनमें सब-की-सब अलग अलग साहित्यिक भाषा बनाई जायँ। ऐसे, हिन्दी खड़ी बोली के साथ राजस्थानी, ब्रजभाषा, बांगड़ू, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, गढ़वाली, कुमाऊनी, भोजपुरी, मगही और मैथिली भी, और इनके अन्तर्गत और कुछ छोटी सी बोलियां भी, स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा बना दी जायँ, और इन सबों में नये साहित्य की सृष्टि भी की जाय। गणतन्त्र के नाम से, केवल अपनी ग्रामीण बोली से परिचित अनपढ़ जनता को अपनी घरेलू बोली के सहारे यथासंभव शीघ्र चिन्ताशील तथा वर्ण-ज्ञान-युक्त बनाने के उद्देश्य से, राजनैतिक-चिन्ता-ग्रस्त कुछ नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। सांस्कृतिक तथा राजनैतिक उभयविध दृष्टिकोण से यह

"विकेन्द्रीकरण" पेश किया गया है; इसके साथ ही साथ प्रादेशिकता को पूरी तौर से अपनी राह पर चलने का अधिकार देने का मनोभाव भी कुछ आ गया है ।

विकेन्द्रीकरण की बात का आना कुछ स्वाभाविक तो है, पर अखिल भारतीय सांस्कृतिक जागृति के साथ-ही-साथ प्रान्तिक चेतना, प्रांतिक भाषाश्रयी भावना, प्रान्तिक ऐतिह्य तथा संस्कृतिके संबंधमें ममता-बोध—ये आये बिना नहीं रह सकता । अखिल भारतीय एकता, और प्रान्तिक सत्ता—इन दोनों में विरोध है; पर दोनों का सांमजस्य होना चाहिये । विकेन्द्रीकरण की बात से कुछ लोग उल्लसित हुए हैं, कि अब जनपदों के अधिवासियों को "साहित्यिक साम्राज्य-वाद" से छुटकारा मिल सकेगा; पर जिन्हें राजनैतिक ऐक्य रखना है, वे इससे भयभीत हो रहे हैं, और ये प्रमाद गिन रहे हैं, कि धीरे-धीरे हिन्दी को आश्रय कर हिमाचल से विंध्य तक और अफगान-सीमा से बंगाल तक जो एका बना है, उसे शायद तोड़ दिया जायगा । अपनी अपनी मानसिक धारणा के कारण मनुष्य ऐसी बात पर प्रसन्न होते हैं, या अप्रसन्न; व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर जिनकी झुकावट होती है, उन्हें विकेन्द्रीकरण पसन्द है; और जिनमें बृहत्तर समन्वय या समवाय का चाव है, उनके लिए विकेन्द्रीकरण सोचने की बात अनुभूत होती है ।

अपनी घरेलू या प्रान्तिक बोली पर आकर्षण स्वाभाविक होते हुए भी, विशेष समझ और विचार के साथ इस प्रश्न को हल करना होगा । केवल विकेन्द्रीकरण के लिए विकेन्द्रीकरण, उचित या लाभप्रद अथवा मंगलावह नहीं होगा । मेरे; विचार में, इस विषय में पांच वस्तुओं पर ध्यान देना चाहिये । ये पांच यों हैं:—[१]; व्याकरण; [२] भाषाभिमान; [३] कठिनता; [४] पुराना साहित्य; और [५] सांप्रतिक इतिहास, जिसकी स्मृति प्रान्तीय जनता में विद्यमान है । दिल्ली की भाषा, बांगडू बोली तथा मेरठ रोहिलखण्ड की जानपद हिन्दुस्तानीके आधार पर, आज कल की खड़ी बोली हिन्दी प्रतिष्ठित है । मथुरा-अंचल की ब्रजभाषा इससे

घनिष्ठ रूप में संग्रथित है, यह ब्रजभाषा काव्य में आती है । इससे बुन्देली और कनौजी बहुत ही मिलती हैं । ब्रजभाषा, कनौजी, बुन्देली, देहलवी-हिन्दुस्तानी, बांगड़ू, जानपद-हिन्दुस्थानी—ये सब "हिन्दी" अर्थात् "पछांही-हिन्दी" ही की निजी शाखायें हैं; ये सब मध्यदेश की विशेष-भाषा के रूप-भेद हैं । इन बोलियों को जो बोलते हैं, उनके लिए हिन्दी सचमुच अपनी भाषा है । पर इनके अतिरिक्त, ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनकी घरलू बोली पछांही-हिन्दी से एक दम पृथक् है, पर इन्होंने शुद्ध हिन्दी को (अथवा इसके मुसलमान रूप उर्दू को), अपनी साहित्यिक शिक्षा तथा बाहरी जीवन की भाषा बना ली है । हिन्दी इनके लिए शिक्षा-सापेक्ष है, सीखने में कुछ कष्ट उठाये बिना ये हिन्दी को अपनाने नहीं पाते । यह कष्ट कहीं थोड़ा, कहीं बहुत होता है । ऐसी अवस्था उन लोगों की है जो घर में इन बोलियों को साधारणतया बोलते हैं—हिन्दकी या लहन्दी या पश्चिमी-पंजाबी बोलियां;पूर्वी-पंजाबी बोलियां, तथा डोगरी; राजस्थानी बोलियां; कोसली या पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी; बिहारी बोलियां—भोजपुरी, छोटा-नागपुरी, मगही, मैथिली; और पश्चिम तथा मध्य हिमाली बोलियां—चमेआली, किउँठाली, सिरमौड़ी, कांगड़ी, कुलूई इत्यादि, और गढ़वाली और कुमाऊनी । हिन्दी सीखने में, हिन्दी से इन बोलियों के पार्थक्य के अनुसार, लोगों की कठिनाई होती है । इसीलिए व्याकरण का सवाल सब से पूर्व सामने आता है ।

[१] व्याकरण की दृष्टि से, राजस्थानी तथा हिन्दी इन दोनों का पार्थक्य कहां तक है, यह विचारणीय है । "राजस्थानी" इस नाम के अन्दर जितनी बोलियां आती हैं, वे सब एक नहीं हैं; ये आपस में यथेष्ट पृथकत्व रखती हैं । तो भी, साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि, राजस्थानी बोलियों में जिसमें सबसे अधिक राजस्थानीपन विद्यमान है, यदि उससे हिन्दी की (विशेष रूप से ब्रजभाषा हिन्दी की) तुलना की जाय, और साथ-ही-साथ हिन्दी से सुदूर पूर्व की एक भाषा मैथिली

की भी तुलना की जाय (मैथिली-भाषी लोग अब हिन्दी को शिक्षा तथा साहित्य में स्वीकार कर हिन्दी-प्रान्त के अधीन हो गये हैं), तो देखा जायगा कि, मैथिली और हिन्दी में आसमान-ज़मीन का फ़र्क़ या आकाश-पाताल का अन्तर है, पर राजस्थानी और हिन्दी का संबंध, जैसा कहा गया है, चोली-दामन का सा है। मैथिली भाषा व्याकरण की दृष्टि से हिन्दी से बिलकुल अलग भाषा है। कुछ प्रधान प्रधान बातों पर विचार कीजिये। ध्वनियों में राजस्थानी और हिन्दी के बीच यथेष्ट पार्थक्य रहते हुए भी (विशेष करके घोष महाप्राण ध्वनियों के बारे में, ह-कार के बारे में, 'ण' 'ळ' के बारे में), स्वर-ध्वनियों में बहुत-सा सांनिध्य है। मैथिली के स्वरों में ह्रस्व 'ए ऐ ओ औ' आ गये हैं, अ-कार का राजस्थानी 'औ'-का सा दीर्घ उच्चारण भी मिलता है। मैथिली में हिन्दी और राजस्थानी की नांई विशेष्य शब्दों का तिर्यक् अर्थात् सुप्-प्रत्यय-ग्राही प्रातिपदिक रूप नहीं मिलता (जैसा हिन्दी 'घोड़ा—घोड़े, घोड़ेका'; राजस्थानी—'घोड़ो—घोड़ा, घोड़ा-को, घोड़ा-रो'; पर मैथिली-'घोड़ा—घोड़ाक')। मैथिली में लिंग-भेद के लिये हिन्दी और राजस्थानी की सी जटिलता नहीं है, संज्ञाहीन वस्तुओं के नाम स्त्री-लिंग के नहीं होते। पर मैथिली में शब्दों के कई रूप-भेद होते हैं—इन रूपों में कुछ कुछ अर्थ-सम्बन्धीय सूक्ष्म पार्थक्य भी आते हैं; जैसे, 'घुड़, घोड़, घोड़वा, घोड़ौवा'। बहु-वचन मैथिली में सुप्-प्रत्यय द्वारा नहीं होता; जैसा राजस्थानी और हिन्दी में (हिन्दी 'घोड़ा'—बहुवचन 'घोड़े', राजस्थानी 'घोड़ो—घोड़ा'; पर मैथिली 'घोड़ा—घोड़ासभ')। क्रिया में, हिन्दी और राजस्थानी इन दोनों में कर्तरि, कर्मणि तथा भावे प्रयोग होते हैं, पर मैथिली में सिर्फ कर्तरि प्रयोग दिखाई देता है। मैथिली की क्रियाओं में एक अजीब चीज़ आ गई है—कर्ता और कर्म के गौरव या लाघव के अनुसार सर्वनाम-मूलक विभिन्न प्रत्ययों का व्यवहार करना; और साथ-साथ क्रिया से जिसका स्वार्थ है, वह यदि मध्यम पुरुष का हो, तो एक विशेष प्रत्यय क्रिया से संयुक्त हो जाता

है; और यदि वह प्रथम पुरुष का हो, तो और एक प्रत्यय। ऐसी अद्‌भुत रीति ने मैथिली को, अपने क्रियापदों के कारण, बाहर के लोगों के लिये अत्यन्त कठिन बना दिया है (जैसा—'देखल'=देखा; 'देखल कै'=किसी नीच व्यक्ति ने दूसरे नीच व्यक्ति को देखा, जैसे चंडाल ने चंडाल को देखा; 'देखलथी'=किसी उच्च जाति के मनुष्य ने नीच जाति के मनुष्य को देखा; 'देखलथीन्हि'=किसी उच्च जाति के मनुष्य ने दूसरे किसी उच्च जाति के मनुष्य को देखा; 'देखलथून्हि',=किसी उच्च जाति के मनुष्य ने और किसी उच्च जाति के मनुष्य को देखा, और जिसे देखा वह तुम से सम्पर्कित है; 'देखलैन्हि'=किसी नीच ने उच्च को देखा, 'देखलौन्हि'=किसी नीच ने उच्च को देखा, और वह उच्च व्यक्ति तुम ही से सम्पर्कित है; 'मारलीऐक'=मैंने उस को मारा; 'मारलीऔक'=मैंने उसे मारा, वह तुमसे सम्पर्कित है; इत्यादि)। हिन्दी और राजस्थानी, इन दोनों में ऐसी बातें कहां हैं? मैथिली के समक्ष, हिन्दी और राजस्थानी मानों कि एक ही गुलदस्ते के या एक ही शाखा के दो फूल हैं। ऐसे ही हिन्दी और लहन्दी में जो भिन्नता है, उससे बहुत ही कम हिन्दी और राजस्थानी में है। पूर्वी-हिन्दी (कोसली) पछांही हिन्दी से बहुत मिलती है, पर पछांही हिन्दी और राजस्थानी इन दोनों में जो family likeness—एक गोष्ठी की होने के कारण जो सादृश्य विद्यमान है, वह पछांही-हिन्दी और पूर्वी-हिन्दी के बीच नहीं है; पूर्वी-हिन्दी में तिर्यक् रूप का अभाव, स्त्रीलिंग के विषय में विशेष सहूलियत, तथा क्रिया में कर्मणि और भावे प्रयोगों का न रहना—इन कारणों से, पछांही-हिन्दी की गोष्ठी की यह नहीं है; पर राजस्थानी, हिन्दी ही की समगोष्ठीक है। व्याकरणगत अनुभव—जर्मन भाषा में जिसे Sprachgefuehl अर्थात् Speech-feeling कहते हैं, वह हिन्दी और राजस्थानी की बराबर ही है। इन सब कारणों से, व्याकरण का हिसाब यदि किया जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि राजस्थानी और हिन्दी में पार्थक्य ऐसा लक्षणीय या असंयोजनीय नहीं है। खास कर के यदि व्रजभाषा तुलित किया जाय, तो

हिन्दी और राजस्थानी और भी निकट सम्बद्ध मानी जायगी। इस पर, हिन्दी का (पुराने काल में व्रजभाषा का, अब खड़ी बोली का) प्रभाव समग्र राजस्थानी बोलियों पर इतना ही पड़ा है, हिन्दी से परिचय। राजस्थानी भाषियों में इतना गहिरा है, कि हिन्दी को ये अपनी प्रान्तिक बोली ही समझने लगे हैं, और इसके वातावरण को ये लोग बिलकुल अपनी प्रान्तिक बोली की जैसी पाते हैं।

इसलिए, केवल व्याकरण की दृष्टि से, राजस्थानी अब जैसी है, उसके लिए हिन्दी से सम्पूर्ण रूप से पृथक हो जाना असंभवनीय होगा। व्याकरण—भाषा की बनावट—जब तक बिलकुल दूसरी नहीं जंचती, तब तक किसी प्रतिष्ठापन्न भाषा की आधीनता से मुक्ति मिलना कठिन या तो असंभव होता है।

[२] भाषाभिमान। किसी बोली का व्याकरण उस बोली की आश्रित भाषा के व्याकरण से पृथक या दूसरे ढंग का प्रमाणित होने के बाद, यह विचार करना चाहिए कि उस बोली को जो लोग अपनी मातृभाषा के रूप में बोल लेते हैं, उनमें उसके लिए अभिमानबोध है या नहीं। ऐसा प्रायः हुआ करता है कि किसी जाति या उपजाति के मनुष्यों में ज्यादातर अपनी मातृभाषा के लिए कोई भी ममता नहीं है। Scotland स्काटलैंड के High lands हाय लैण्ड्स अर्थात् उत्तर के पार्वत्य प्रान्तों में अभी तक Celtic केल्तीय शाखा की इन्डो-यरोपीय या आर्यभाषा Gaelic गैलिक चालू है; पर अंग्रेजी धीरे धीरे उसे हटा कर अपना राज्य विस्तार कर चली है। गैलिक-बोलने-वालों में अपनी मरणशील भाषा के लिए कोई भी चिन्ता नहीं है—केवल कुछ अल्पसंख्यक मातृ-भाषा-प्रेमी के सिवाय। स्काटलैण्ड की सैर करने के समय मैंने उत्तर के Inverness इनवर्नेस नगर के कुछ नवयुवकों से पूछा था—"तुम गैलिक बोलते हो? इसे लोग क्यों छोड़ देते हैं?" जवाब मिला—'Gaelic no good—Gaelic no use' ऐसे बहुतेरे अनपढ़ लोग, जिनमें किसी प्रतिष्ठापन्न भाषा से कुछ परिचय

है, शर्म के मारे अपनी प्रान्तिक या देहाती बोली शिक्षित जनों के सामने कभी नहीं बोलेंगे; और शिक्षित लोग भी ऐसे होते हैं, जो अपनी घरेलू बोली को शिक्षा-हीनता की निशानी समझ उससे संकोच अनुभव करते हैं। पूर्वी-हिन्दी जिनकी घर की बोली थी, मीर्जापुर के ऐसे एक शिक्षित परिवार के पुरुषों ने मुझसे कहा था—"हम तीन भाइयों ने तय कर लिया है कि हम यथा-संभव हो सके घर में भी अवधी नहीं बोलेंगे, सिर्फ शुद्ध हिन्दी ही बोलेंगे, ताकि घर के बच्चों की भाषा शुरू से ही ठीक रहे।" ऐसा तय करना, अपनी घर की बोली से, या प्रान्तिक बोली से, प्रेम या अभिमान का परिचायक नहीं माना जायगा। जहां किसी प्रान्तिक बोली के लिये न केवल शिक्षित जनों में बल्कि साधारण जनता में भी अभिमान या गर्व-भाव नहीं है, जो लोग इस बोली के स्वाभाविक उत्तराधिकारी होकर जहाँ उससे सहानुभूति नहीं रखते हैं, वहां उस बोली के संरक्षण के लिए, दूसरी प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिपक्ष भाषा के सामने इसकी बचत के लिए अधिक आशा नहीं है। पर, जहां अपनी भाषा या घरेलू बोली के लिये शिक्षित तथा अशिक्षित सब प्रकार के लोग सदैव सचेत हैं, अपनी बोली ही में जोश के साथ जहाँ हर मौके पर लापरवाही से बात करते हैं, वहां वह भाषा या बोली मरने की नहीं। अपनी भाषा के लिए यह आग्रह जल्दी बढ़ाया जाय, तो इसका फल ऐसा ही होगा, कि शिक्षा कि वृद्धि के साथ उस भाषा में बड़ा साहित्य बन जायगा। बंगाल में ऐसा ही हुआ था। सन् १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन शुरू हुआ, बंगाल-प्रांत के लोगों को हानि पहुंचाने के लिये उसे दो टुकड़े कर दिये गये, अप्रकट चेष्टा चली कि बंगला भाषा को दो प्रादेशिक रूपों में विभाजित कर समग्र बंगाल के भाषा-साम्य का नाश किया जाय। ऐसी परिस्थिति में बंग-भाषियों में अपनी मातृभाषा के लिए एक अभूत-पूर्व आत्मीयता-बोध जागृत हुआ, बंगला भाषा से "स्वदेशी आंदोलन" को और विदेशीपन के बहिष्कार की नीति को बड़ी मदद मिली।

बंगला में एक नवीन साहित्यिक उज्जीवन हो गया, जिसके कारण बंगला साहित्य में शतकपाद के बीच विस्मयकर उन्नति नजर आई।

राजस्थान के लिए राजस्थान-वासी अब तक इतना सचेत नहीं थे। हां, अबतक राजस्थान की स्त्रियां विवाह आदि पारिवारिक उत्सवों में और त्यौहारों में राजस्थानी में लिखे हुए गाने गाती हैं, और यों एक साहित्यिक परम्परा की रक्षा इन्होंने की है; पर भाषा के सम्बन्ध में ये गतानुगातिक ही हैं। पचीस वर्ष पहले, अर्थात् अब से एक पीढ़ी पूर्व, दो एक विशेषज्ञ के सिवा कोई भी राजस्थानी के लिये सोचता तक नहीं था। राजस्थानी साहित्य के ज्ञान और इससे परिचय का अभाव ही मुख्य कारण था। पर, एक बात लक्षणीय थी। कुछ विशेष सोच विचार न कर भी, राजस्थान के लोग हिन्दी से परिचय रखते हुए भी आपस में अपनी राजस्थानी बोली ही में बात करते थे। मारवाड़ी बोलने-वाले कभी आपस में हिन्दी नहीं बोलेंगे, ढूंढारी-बोलने-वाले अपने लोगों से बात करते समय "छै, छा" नहीं छोड़ेंगे। परन्तु जब किसी मारवाड़ी-बोलने-वाले को मालवी-बोलने-वाले के साथ बात करनी होती, तब ज़्यादातर इन दोनों के बीच हिन्दी का ही प्रयोग होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि राजस्थान और मालवे की बोलियों को एक बना देने के लिये किसी प्रकार की साधारण-राजस्थानी अपने को प्रतिष्ठित कर नहीं सकी। जैपुरी या हाड़ौती बोलने वाले से यदि मारवाड़ी-बोलने-वाले की बातचीत होती, तो इन दोनों में ज़्यादातर हिन्दी का ही उपयोग होता है, ऐसा मैंने सुना है। जो कुछ हो, तथाकथित राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों के जनों में ऐसे वर्ताव का मुख्य कारण, समग्र राजपूताने और मालवे की बोलियाँ एक ही मूल भाषा की नहीं हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अपनी बोली पर सज्ञान या अज्ञान अभिमान-बोध मारवाड़ी-बोलने-वालों में जितना है, उतना दूसरी-बोली-वालों में नहीं। भोजपुरी दो करोड़ से अधिक मनुष्यों की भाषा है, भोजपुरी में हम एक प्रकार की अनजान

से उपजी हुई भाषागत-चित्तता देख पाते हैं। भोजपुरी-बोलने-वाला यदि अशिक्षित हो, तो संभव है कि वह शुद्ध हिन्दी न जानने के कारण कुछ लाघव या शर्म अनुभव करेगा, पर अपने लिये अपनी बोली ही यथेष्ट है, दूसरी बोली या भाषा की परवाह नहीं है, ऐसी एक अस्पष्ट धारणा भी उसके मन में छिपी हुई है। शिक्षित भोजपुरी आन्तःप्रादेशिक सभा या जन-समाज में भी अपनों में हिन्दी छोड़ ज़्यादातर भोजपुरी ही बोल लेते हैं, और ऐसा करना स्वाभाविक ही सोचते हैं, यह मैंने देखा है। भोजपुरी-बोलने-वाली अशिक्षित जनता बड़े ही जोश के साथ भोजपुरी में एक नई रीति के नाटक को सुनती है, जिसे "विदेशिया नाटक" कहते हैं। मैथिल लोग भी ऐसा करते हैं। पंजाब के पश्चिम तथा पूर्व प्रान्त के लोग भी अपनी अपनी प्रान्त की बोली ही स्वाभाविक-तया बोलते हैं। पर अपनी बोली के लिए शिक्षित ब्रजभाषा, कनौजी या बुन्देली बोलने-वालों में, अपनी बोली पर घमण्ड रखते हुए भी, इतनी स्पृहा नहीं देखी, और न पूर्वी-हिन्दी-बोलने-वालों में। अस्तु— राजस्थान के विभिन्न प्रान्तों की बोलियों में ज़्यादातर मारवाड़ी के लिये यह भाषाभिमान नजर आता है, और मारवाड़ी विद्वानों के अनुशीलन, अनुसंधान और संशोधन के कारण यह भाषाभिमान अपने पुराने साहित्य के सम्बन्ध में और भी स्पर्शकातर, और भी आत्म-प्रकाश-शील होता जाता है। व्याकरण-गत पार्थक्य मारवाड़ी का हिन्दी से अधिक हो या अल्प हो, उससे कुछ चिन्ता नहीं; भाषाभिमान यदि सुप्रतिष्ठित हुआ, तो कम-से-कम अपने घर में मारवाड़ी का ही जय-जयकार अवश्यंभावी है।

[४] कठिनता की बात अब विचारणीय है। हिन्दी सीखने में यदि प्रान्तिक-बोली-वालों को सचमुच कठिनाई अनुभूत होती है, तो हिन्दी-बनाम-प्रान्तिक बोली का मामला हिन्दी के लिये ज़रा कमज़ोर हो जाता है। राजपूताने के राजस्थानी, मारवाड़ी, जैपुरी आदि बोलियों के लोगों की अभिज्ञता और उनकी भावना इस विषय पर कैसी है, उस

पूरा ज्ञान मुझे नहीं है । पर हम पूरब और बंगाल के रहने-वालों के लिये, और दक्षिण के द्राविड़-भाषा-बोलने-वालों के लिये, हिन्दी की कुछ विशेषतायें दुरपनेय कठिनाईयां बन जाती हैं । हिन्दी का लिंग-विभ्राट् उनमें एक प्रधान बात है, जैसे 'चांवल' या 'भात' हुआ पुंल्लिंग, तो 'दाल' हुई स्त्रीलिंग; 'पुस्तक' या 'किताब' स्त्रीलिंग, पर 'काग़ज़', 'दफ़्तर' और 'ग्रन्थ' हुए पुंल्लिंग । बहुत सी वस्तुओं के नाम, गुणों के नाम, क्रियाओं के नाम क्यों स्त्रीलिंग के समझे जाते हैं और क्यों पुंल्लिंग के, यह हम पूरब के लोगों के लिये अबोध्य या दुर्बोध्य है । हां, इन सब बातों के लिये कुछ भाषातात्त्विक या ऐतिहासिक कारण भी हैं; पर भाषातत्त्व पढ़ कर, देख-भाल के कारण समझ कर, हम नहीं सीखते कि 'चोट' स्त्रीलिंग का शब्द है, और 'आघात' पुंल्लिंग का, 'मृत्यु' और 'वफ़ात' स्त्रीलिंग है, पर 'मरण' (या 'मरन') और 'अन्तकाल' पुंलिंग है, 'जय' स्त्रीलिंग है पर 'विजय' पुंल्लिंग है । बहुतेरे विशेषणों की स्त्रीलिंग के विशेष्यों से संगति, और खास करके सकर्मक क्रिया के अतीत काल में, कर्ता से नहीं होकर कर्म से इसका अन्वय, ये सब हमारे लिये एक बड़ी कठिनाई बन जाती है; यहां तक कि हम पूरब-वालों ने इन सब जटिलताओं से हिन्दी को मुक्त कर एक प्रकार के सहज व्याकरण की चालू या बाजारू हिन्दी बना ली है, जिसमें न स्त्रीलिंग का झंझट, न आने पाता 'ने'-के साथ सकर्मक क्रिया के कर्मणि और भावे प्रयोगों का संकट । हिन्दी की कठिनाईयाँ हमारे लिये इतनी ही सच्ची हैं कि हमने by cutting the Gordian knot अर्थात 'गांठ को काट कर' इनसे छुटकारा किया है—इन सब जटिल विशेषताओं को हमने उड़ा दिया है । 'मैंने राजा को देखा; मैंने रानी देखी—मैंने रानी को देखा; मैंने एक लड्डू खाया—मैंने दो लड्डू खाये; मैंने एक कचौरी खाई, तीन कचौरियां खाईं'—ऐसे वाक्यों के स्थान पर चालू तौर पर अनपढ़ लोगों की बाजारी हिन्दी में हम यों बोलते

हैं—'हम राजा देखा, हम रानी देखा (या हम राजा को, रानी को देखा), हम एक लड्डू खाया, हम दो लड्डू खाया; हम एक कचौरी खाया, हम तीन कचौरी खाया'। हिन्दी की वाक्य-रीति का टेढ़ापन पूरब में आकर सीधा हो गया। हिन्दी के प्रचार में, पूरब के पूर्वी-हिन्दी, भोजपुरी मगही और मैथिली वालों ने (जो बंगाल में "पश्चिमा" और बम्बई और सिन्ध-पंजाब प्रान्तों में "भैया लोग" कहलाते हैं, और अपनी भाषा के कारण बम्बई की कुछ फिल्मों में जो हास्यास्पद बनाये जाते हैं) एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश ग्रहण किया है; पर इन्होंने ही साधारण जनता की हिन्दी की शकल को बदल दिया। पर चालू हिन्दी को व्याकरण के बन्धनों से मुक्त कर ऐसी सहल भाषा बनाने में उन (पूरबी और बिहारियों) की एक अनमोल देन को, कार्यतः भारत के दूसरे प्रान्तों के बहुतेरे लोगों ने स्वीकार कर लिया है; 'चलतू' या 'बाजारू हिन्दी' में, पेशावर के किस्साख़ानी बाज़ार में हो, या जगन्नाथपुरी के बड़े-दाँड़ की सड़क में हो, सेतुबन्ध रामेश्वर के मन्दिर के स्तंभारण्य में हो, या केदार-बदरी के हिमारण्य में हो, जहां कहीं वह सुनाई दे, ये सब सरलताएँ आती हैं। शुद्ध हिन्दी को अपनाने में पूरब के लोगों के लिये कठिनाई हुई; इसका परिणाम हुआ—बाजारू हिन्दी। ऐसी कठिनाई पूरब में क्यों कर मालूम हुई? कारण यह है कि पूरब की भाषाओं का वातावरण हिन्दी के वातावरण से अलग है। पर, राजस्थान के लोगों के लिए ऐसी कठिनाई कहां है? कलकत्ते में बहुत से मारवाड़ी सेठ-साहूकार, भोजपुरी-ओड़िया बंगाली लोगों से बर्ताव करते करते "हम देगा, हम जायगा, वो लोग कल आयगा, उसका छालिया, ऊसका माइया (=उसका बेटा, उसकी बेटी)" ऐसे बोल लेते हैं; जैसे बम्बई में मराठी तथा गुजराती बोलनेवालों के साथ रहने के कारण उन मारवाड़ी सेठ-साहूकारों के रिश्तेदारों से बम्बई की बाजारू हिन्दी यों सुनाई देगी—"हम देंगा, हम जाएंगा, वो जण काल आएंगा, ओसका दीकरो या मुलगा, ओसका दीकरी या मुली।" पर अपने देश राजस्थान

में रह कर जो हिन्दी मारवाड़ी-बोलने-वालों के मुंह से निकलेगी, उच्चारण में उसकी प्रान्तिकता काफी रहते हुए भी वह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हिन्दी के मान से ज़्यादा गिरी हुई नहीं जँचेगी। हिन्दी सीखने में मारवाड़ी तथा अन्य राजस्थानी भाषियों में सचमुच कठिनाई कहां तक और कितनी होती है, इसकी निष्पक्ष जांच होनी चाहिए—हिन्दी से राजस्थानी (खास करके मारवाड़ी) के विकेन्द्रीकरण पर विचार उसके बाद ही हो सकता है। राजस्थान की हिन्दी में जो राजस्थानीपन आता है, पूरब की हिन्दी के मुकाबिले में वह ज़्यादातर उच्चारण-घटित है, व्याकरण या भाषा की अनुभूति को आश्रय कर उतना नहीं।

[४] अब आलोच्य है पुराने साहित्य की बात। यथेष्ट परिमाण में प्राचीन साहित्य के रहने से, अपनी साहित्यिक मर्यादा से गिरी हुई किसी अवहेलित भाषा को पुनःसंस्थापित करने में विशेष सहायता मिलती है। ऐसा प्राचीन साहित्य, आवश्यकता से अधिक, राजस्थानी में है; इसके विशाल साहित्य का सिर्फ एक छोटासा अंश अभी तक छपा है। पुरानी राजस्थानी, पिंगल और खास कर के प्राचीन पश्चिमी-राजस्थानी या प्राचीन मारवाड़ी, डिंगल अर्थात् मध्ययुग की मारवाड़ी, और पुरानी जयपुरी, इन सबों में लिखित साहित्य की श्रेष्ठ पुस्तकों के प्रकाशन से, मध्यकालीन भारतीय साहित्य के इतिहास के एक अवलुप्त अध्याय का उद्धार होगा, जिससे भारत-भारती का मुंह और भी उज्ज्वल होगा। इस साहित्य से सामान्य कुछ परिचय का ही फल है—राजस्थानी की साहित्यिक पुनर्जागृति के लिए नई चेष्टा, जो अब हो रही है। व्याकरण की दृष्टि से राजस्थानी हिन्दी से उतनी पृथक् नहीं; हिन्दी सीखने में राजस्थानियों में उतना कष्ट न हो, अपनी बोली के लिए बेहद अभिमान अभी तक नहीं आया हो—पर सब से बढ़ कर यह बात सब को अभिभूत कर रही है कि राजस्थानी का एक प्रौढ़ और विस्तृत साहित्य है, जिसमें कुछ अपूर्व ग्रन्थ और विश्व-मानव के लिये रसायन-स्वरूप काव्य-रस हैं। नई तौर पर राजस्थानी में अब

साहित्य-सर्जना चल रही है। जो कुछ हुआ है, हो रहा है, और अदूर भविष्य में होगा, वे सब इस पुराने साहित्य के बल से। ऐसा पुराना साहित्य, हिन्दी की छाया में आई हुई भाषा या बोलियों में लक्षणीय रूप में पूर्वी-हिन्दी की शाखा अवधी या बैसवाड़ी में है, मैथिली में भी है; पर पुरानी अवधी और मैथिली साहित्यों का प्रसार, उनके विषय-वस्तुओं का वैचित्र्य, राजस्थानी साहित्य के प्रसार और वैचित्र्य से तुलनीय नहीं। विद्यापति और तुलसीदास समग्र भारत के प्रमुख कवियों में हैं; मैथिली साहित्य का गहरा प्रभाव बंगाल और आसामी साहित्यों पर ईस्वी पन्द्रहवीं और सोलहवीं शतियों में पड़ा था; और तुलसीदास की प्रतिभा की चमक ने, और उनके भक्ति-भाव और मानविकता ने, अखिल उत्तर-भारत के चित्त को उद्भासित कर दिया है। पर अपना पुराना इतिहास इतना गौरवमय होते हुए भी, ये दो भाषाएं अपनी गिरी हुई अवस्था सोच कर एक साथ गा रही हैं—'ते हि नो दिवसा गताः'—मानो कि वे दिवस नहीं लौटने के।

इस तरह हम देखते हैं कि विस्तृत पुराना साहित्य रहने से भी कभी कभी भाषाएं खड़ी हो नहीं पातीं। ऐसे दृष्टान्त भारत के बाहर भी नजर आते हैं। फ्रान्स के दक्षिण में जो भाषा बोली जाती है, वह Provencal (प्रवाँसाल) भाषा, व्याकरण की दृष्टि से उत्तर-फ्रांस की फ्रेंच या फ्रांसिसी भाषा से पृथक् है। प्रवाँसाल में एक बड़ा प्राचीन साहित्य था। पर धीरे-धीरे समग्र फ्रांस को उत्तर-फ्रांस की राजधानी पैरिस में स्थित एक केन्द्रीय शासन के अधीन बना दिया गया। फिर, फ्रांसिसी भाषा के सहारे तमाम फ्रांस में प्राथमिक शिक्षा कायम की गई। परिणाम यह हुआ कि, फ्रांस में सिर्फ फ्रेन्च या उत्तरी-फ्रान्सिसी का ही बोलबाला हुआ, प्रवाँसाल-भाषी दक्षिण-फ्रांस भी फ्रेंच साहित्य का एक नया केन्द्र बन गया; प्रवाँसाल भाषा और साहित्यिक भाषा न रही। तो भी, विगत ईस्वी शती के द्वितीयार्द्ध में कई नामी प्रवाँसाल कवि हुए, उनमें एक थे Frederi Mistral फ्रेदेरी मिस्त्राल, जिनका

जीवनकाल था सन् १८३० से १९१४, और प्रवाँसाल भाषा में रचित अपने काव्य के लिये जिन्हें Nobel नोबेल पारितोषिक भी मिला था। मध्य-युग में प्रवाँसाल भाषा की प्रेम-कविता का प्रभाव इटली, स्पेन, उत्तर-फ्रान्स और इंग्लैण्ड तथा जर्मनी के साहित्यों पर पड़ा था। पर इतना साहित्य-गौरव रहते ही, प्रवाँसाल आज फ्रेंच के काबू में आ गई है; प्रवाँसाल-बोलने-वाले घर में अपनी बोली बोल लेते हैं, कभी कुछ-कुछ इसमें लिखते भी हैं, अपना प्राचीन साहित्य इनके शिक्षित लोग पढ़ते भी हैं; पर इनकी शिक्षा की भाषा, बाहरी जीवन की भाषा फ्रेंच ही हो चुकी है।

[५] अब रही सांप्रतिक इतिहास की बात, जिस इतिहास की स्मृति जनता के जीवन में कार्यकर है। राजस्थान प्रान्त के प्राचीन इतिहास का संयोग गुजरात और सिंध-पंजाब से ज़्यादातर था; पर विगत कई शती की बात यह है कि, गुजरात और मालवे से राजस्थान अलग हो गये थे, और सिंध और पंजाब से भी। मुगलों के समय से राजस्थान का घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध हुआ है—दिल्ली-आगरे से, याने हिन्दी-प्रान्त से; तथा भक्तिमार्ग के कारण, मुख्य सांस्कृतिक योग हुआ व्रज-मण्डल से। यों कार्यकर आधुनिक इतिहास की दृष्टि से, राजस्थान मध्य-देश ही के साथ सट गया है।

राजस्थान-प्रान्त में नई साहित्यिक भाषा की मर्यादा को प्राप्त करने की योग्यता एकमात्र मारवाड़ी ही की है। अपने पुराने साहित्य के आधार पर खड़ी होकर यह मर्यादा कहां तक इसे मिल सकेगी, यह भविष्य के तमिस्रामय गह्वर में विलीन है; पर यह मारवाड़ियों की प्रान्तिक चेतना की जागृति की शक्ति के ऊपर निर्भर करेगा। परंतु मेरे विचार में, हिन्दी से मुक्त होकर पूर्णरूप से स्वाधीन भाषा बनना, मारवाड़-प्रान्त की एकमात्र साहित्यिक भाषा बनना, इसके लिये अब असम्भव है। सदा के लिये मारवाड़ तथा राजस्थान दो प्रकार की भाषाओं का क्षेत्र बना है। पिंगल (शोरसेनी अपभ्रंश के आधार पर बनी), व्रजभाषा, और खड़ी बोली एक तरफ में, दूसरी तरफ में

पुरानी पश्चिमी-राजस्थानी, डिंगल, और कुछ पुरानी पूर्वी-राजस्थानी। अपने इतिहास को भूलने से चलेगा नहीं। पिंगल और डिंगल, अथवा व्रजभाषा और मरुभाषा, इन दोनों घोड़ों या बैलों के द्वारा वाहित रथ के ऊपर राजस्थान-सरस्वती विराजमान है। मारवाड़ी में साहित्य-सर्जना नये उत्साह से किया जाय, तो यह भारतीय संस्कृति के लिये एक सुसमाचार होगा; राजस्थान की आत्मा को इस साहित्य से एक नवीन और पूर्ण प्रकाश-मार्ग मिलेगा। पर, अवस्था-वैचित्र्य के कारण, यह नवीन राजस्थानी साहित्य मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, हिन्दी के साहित्य के सामने अप्रधान ही रहेगा। जैसा पंजाब में पंजाबी साहित्य। परन्तु यदि मीराबाई सदृश कवि फिर राजस्थानी साहित्य के मन्दिर में अवतीर्ण हों, तो उनकी कविता अखिल-भारत की और विश्व-मानव की बनेगी।

राजस्थानी की चर्चा चले, इसका अध्ययन, अध्यापन राजस्थानियों में पुनःस्थापित होवे, यह सबों का काम्य है। पर हिन्दी के स्थान पर यदि राजस्थानी को शिक्षा की भाषा बना दी जाय, तो मेरे विचार में ठीक नहीं होगा। हाँ, ऐसा ही अवश्य होना चाहिये और ऐसा होता भी होगा—कि प्राथमिक कक्षाओं से शुरू कर उच्च अंग्रेज़ी (मैट्रिक) कक्षा तक—अध्यापन की भाषा राजस्थानी ही हो; मूल पाठ्य रहे हिन्दी में, उस पर व्याख्यान हो राजस्थानी (मारवाड़ी, जैपुरी या मालवी) में। हिन्दी का साहित्य विशाल है, सर्वधर है, सर्वग्रासी है; यह क्रम-वर्धमान है, इस के माध्यम से मानसिक और आत्मिक पुष्टि अब जितनी मिलती है, और भविष्य में और भी जितनी मिलेगी, बनने-वाले नवीन राजस्थानी भाषा के साहित्य से बहुत दिनों तक नहीं मिलने की ; उस से राजस्थान के विद्यार्थियों को वंचित करना उन्हें मानसिक उपवास में फेंक देना-सा होगा। समग्र भारत के सांस्कृतिक एके का प्रतीक हिन्दी ही है। पंजाब, अन्तर्वेद, पूरब, मध्य-भारत, राजस्थान, गुजरात, सिंध, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम, ओड़िसा, इन सब प्रान्तों की संस्कृति,

एक ही मूल पुरानी भारतीय संस्कृति के प्रान्तिक रूप हैं; द्राविड़ भारत ने भी इसे स्मरणातीत काल से मान लिया है। भारतीय संस्कृति के लिये समय अब नितान्त संकट-पूर्ण है। इस समय जहां विकेन्द्रीकरण के लिये ज़मीन तैयार नहीं है, वहां विकेन्द्रीकरण का प्रश्न लाकर, हिन्दी की संस्कृत-वाली शैली को बिगाड़ कर, उसे उर्दू या मुसलमानी हिन्दी में मिटा देने के प्रयत्न की नाईं, मेरे विचार में, हिन्दी पर खतरा पहुंचाना ही है; यह कार्य भारत की लोकोत्तर संस्कृति पर आघात करना ही कहा जायगा। भाषा, जीवन का एक प्रकाश है; यह सच है। पर जिस भाषा से यह प्रकाश सर्वांगीण और सुन्दर रूप से हो सकता है, वही भाषा ग्राह्य है। भाषा से बढ़कर जीवन है। जहां तक हमारी दृष्टि चल सकती है, हम देख पाते हैं कि अब जगत् में छोटी-छोटी प्रान्तिक बोली या भाषाओं के दिन बीत गये। पृथ्वी में कई एक दर्जन बड़ी-बड़ी भाषाएँ जीती और बढ़ती रहेंगी, जिनमें छोटी-छोटी भाषाओं को समाहित होना पड़ेगा। ऐसी बड़ी भाषाओं में हिन्दी का स्थान तीसरा है; व्यवहार-करने-वालों और बोलने-वालों की संख्या के क्रम के अनुसार, उत्तरी-चीना और अंग्रेज़ी, इन दोनों के बाद हिन्दी आती है। हिन्दी के पीछे आती है रूसी, जर्मनी, जापानी, हिस्पानी, बंगला, फ्रेंच। पन्द्रह करोड़ मानवों की शिक्षा और संस्कृति की भाषा हिन्दी है, चाहे अपने शुद्ध रूप में, चाहे अपने मुसलमानी रूप उर्दू में; जगत् की जनता के एक पांचवी अंश की राष्ट्र-भाषा हिन्दी ही है। मैं अपनी ओर से चाहता हूं कि मेरे वंग-भाषी भाई और बहन अपनी माँ वंग-भाषा की सेवा करते हुए हिन्दी की सेवा में भी कुछ अंश लें, और ऐसे अखिल भारत की एकता को सुदृढ़ करने में सहायता दें। वैसे ही राजस्थान के (खास करके मारवाड़ के) लोग अपनी मां राजस्थानी की सेवा करें, यह तो उनका कर्तव्य ही है; पर साथ-ही-साथ अपनी राज-राजेश्वरी मौसी से विरूप न हों। राजस्थानी बढ़ती रहे, पर हिन्दी से इसका छुटकारा कभी न हो॥

॥ इति ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ १३, पंक्ति १३, "ड, ड़" के स्थान "ड़, ढ़" ।

पृष्ठ १५, पंक्ति २१ [n= ̆] के स्थान [n= ̐] ।

पृष्ठ १९, अन्तिम पंक्ति; अन्तिम शब्द nʌɦi:n के स्थान nʌɦi:n̲ ।

पृष्ठ १७, पंक्ति ११; (as'ilo) के स्थान (as′ilo)

पृष्ठ २९, अन्तिम पंक्ति ['ḍa:ḍɦo:] के स्थान पर [ḍ'a:ḍɦo:] ।

पृष्ठ ३२, पंक्ति २०; " माय् " के स्थान पर " मार्यु' " ।

पृष्ठ ४१, पंक्ति १८; ['बारै] के स्थान [बारै] ।

पृष्ठ ७९, पंक्ति ३ अन्तिम शब्द; [देखल] के स्थान [देखल–] ।

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान

उदयपुर द्वारा

प्रकाशित अन्य महत्वपूर्ण साहित्य
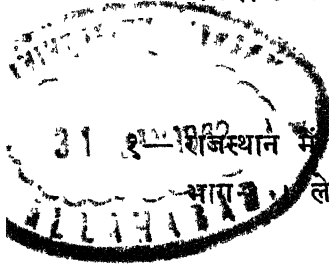
१—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग-[illegible]। लेखक— पं. मोतीलाल मेनारिया, एम. ए.। मूल्य ३)

२—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग-२। लेखक— श्री अगरचन्द नाहटा। मूल्य ४)

३—मेवाड़ की कहावतें–भाग १। सम्पादक–पं. लक्ष्मीलाल जोशी, एम. ए. एल. एल. बी.। मूल्य २)

४—मेवाड़–परिचय। लेखक— पं. विपिन विहारी वाजपेयी, एम. ए. साहित्यरत्न। मूल्य ।।)

५—शोध-पत्रिका, भाग प्रथम; मूल्य ६)